THE BOOK WAS DRENCHED

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182635

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.08 S25C Accession No. H3563

Author शास्त्री, इन्द्र

Title चयनिका. 1934

This book should be returned on or before the date last marked belo

सम्पादक

ब्रह्मचारी इन्द्र शास्त्री

प्रकाशक

रामनरायन लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

११२७

॥)

बाल्य-सहबन्धु श्रीभगवानस्वरूप जी

(ज्ञानपुर निवासी)

के

कर कमलों में सप्रेम

समर्पित

चयनिका

श्रीभगवान स्वरूप जी

दो शब्द

कवि की कमनीय कल्पना की विमल वाटिका में जो भाँति भाँति के सुन्दर मनोहर और मनोज्ञ पुष्प विकसित होते हैं, उन्हें जन साधारण "कविता" के नाम से सम्बोधित करते हैं। उस आनन्द-वाटिका के मालो की दशा विचित्र है। यदि कोई संसारी मनुष्य उस विचित्र जन्तु को एकान्त में अनन्य-भाव से बैठा देख कर और उस की भाव भंगी की विचित्रता का अवलोकन करके "पागल"के अतिरिक्त अन्य कोई भी उपाधि-प्रदान नहीं कर सकता। सचमुच कवि पागल है, उच्छृङ्खल है, झक्की है और है विक्षिप्त। संस्कृत में एक कहावत है, "स्वतन्त्राः कवयः" कवि लोग स्वतन्त्र हैं। किसी कवि की इस दर्पोक्ति—कवयः किं न कुर्वन्ति" का "कवयः किं न जल्पन्ति" कैसा मुँह तोड़ जबाब दिया है। सचमुच में कवि क्या बकेगा इस बात की किसी को भी खबर नहीं। यहाँ तक कि उसे स्वयं इस बात का ध्यान नहीं में क्या कह गया।

एक कविता-प्रेमी ने एक कवि से उसकी कविता को दिखा कर उनसे पूछा—"महाशय इसका मतलब क्या हुआ? कवि महाशय ने अपने उसी झक्कीपन से जबाब दिया। "महाशय, मुझे प्रकृति ने अर्थ करने के निमित्त नहीं बनाया। जिन्हें अर्थ करने के लिये गढ़ा हो वे बाल की खाल निकालें। मुझे तो निर्माता ने केवल कविता करने के लिये ही बनाया है। मैं कविता ही करना जानता हूँ। मैंने कविता कर दी अब जिनका काम अर्थ करना हो वे अर्थ करें। मैं अर्थ करना नहीं जानता।"

यह बात कुछ अंशों में ठीक ही है। कवि के मस्तिष्क में कभी कभी ऐसे भव्य भाव भर जाते हैं, जिनको वह स्वयं समझने में समर्थ

नहीं होता। लहर ही तो है, जाने किस समय आगई। वह उसके आनन्द का भी स्वयं अनुभव नहीं कर सकता। किसी कवि ने ठीक ही कहा है :

कविःकरोति पद्यानि स्वादं जानन्ति पंडिताः
कुमार्या अपि लावण्यं पतिर्जानाति नो पिता।

पिता ने तो पुत्री को पैदा ही किया है, वह भला उसके रूप लावण्य की बात को क्या जाने। उसके रूप लावण्य की परख तो पति ही जान सकता है। इसी प्रकार कवि की कविता का आनन्द कविता प्रेमी ही उठा सकता है। स्वयं कवि उससे वंचित रहता है।

प्रत्येक कार्य के कुछ नियम बँधे रहते हैं। उस कार्य्य के करने वाले उन्हीं नियमों के अनुसार कार्य्य करते हैं। कविता के भी कुछ नियम होते हैं। उन्हीं नियमों को पिंगल शास्त्र कहते हैं। अमुक छंद का क्या नाम है, वह मात्रिक है या वर्णिक, उसके प्रथम पाद में पहिले यगण आना चाहिये, या मगण, उसमें कितनी मात्रा अथवा वर्ण होने चाहिये, इन्हीं सब बातों का वर्णन पिंगल-शास्त्र में होता है।

पिंगल-शास्त्र पहिले नहीं बना। व्याकरण की भाँति इसका भी कविता के पश्चात ही निर्माण हुआ। जब देखा गया कि लोग मन मानी तथा बर जानी करने लगे हैं, तो किसी आचार्य ने उनके लिये कुछ नियम बना दिया। पूर्ववर्ती कवियों को आधार मान कर ही उन्होंने ये नियम बनाये, जिससे परवर्ती कवि उनका ही अनुसरण करें। हमारे यहाँ हिन्दी में भी कविता उन्हीं नियमों को मान कर की जाती है।

कुछ काल से एक ऐसी भी कविता का प्रादुर्भाव हुआ है जिसमें वर्ण, मात्रा, तुक, अनुप्रास, यमक, यति-भंग आदि किन्हीं भी बातों की परवा नहीं की जाती। उसमें भाव ही प्रधान है। प्रकृति के

रहस्य को प्रकट करना ही उस कविता का काम है। इस प्रकार की कविता भी अनादि काल से चली आई है। उपनिषदों में रहस्यवाद अथवा छायावाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। महात्मा कबीर-दासजी की सम्पूर्ण कविता रहस्यवादिनी ही हैं। किन्तु इस समय में इस कविता के मुख्य आचार्य्य श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर ही कहे जाते हैं। नये कवि उन्हें ही अपना आचार्य्य मान कर उनकी शैली का अनुकरण कर रहे हैं।

दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य से हिन्दी में भी इस प्रकार के कुछ कवि कविता करने लगे हैं। दुर्भाग्य हमने इस लिये कहा कि हिन्दी के कुछ वयो-वृद्ध, विद्या-वृद्ध, विद्वान् इस प्रकार की कविता को हेय समझते हैं। उनके विचार में इस प्रकार की कविता से समाज में अकर्मण्यता और व्यभिचार की वृद्धि होती है। उनका कहना है कि ऐसे पराधीन जाति में तो ऐसी कविताएँ बहुत ही अधिक घातक है। पराधीन जाति में तो ऐसी कविताएँ होनी चाहिये जो वीरता के भावों का संचार कर सकें।

इन विचारों में कितनी यथार्थता है, इस बात पर हम यहाँ वाद विवाद करना नहीं चाहते। इसका निर्णय तो पाठक स्वयं करलें, किन्तु हमारा ऐसा विचार है, कि जिसकी वीर रस की कविता की ओर स्वाभाविक ही प्रकृति नहीं है वह यदि वीर रस की कविता करे भी तो उसमें सफल नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो वीर रस के कवि हैं वे इच्छा रखने पर भी रहस्यवाद की कविता नहीं कर सकते। अतः साहित्य में कविता सभी प्रकार की आवश्यक हैं और सभी विषय के पाठक अपनी अपनी इच्छा के अनुसार गद्य तथा पद्य को पढ़ेंगे।

कुछ विद्वान् लोग रवीन्द्र बाबू तक की कविता को रहस्य वादिनी नहीं मानते। फिर हिन्दी के कवियों की बात तो अलग रही।

इस विषय पर भी हम विवाद करना नहीं चाहते। "जो प्रकृति के मूक भावों को भली भाँति व्यक्त कर सके, जो किसी खास विषय को लेकर कविता न करे" उसे चाहे आप रहस्यवादी कहिये या छाया वादी अथवा भाववादी हमारा मतलब यहाँ उसी कवि तथा ऐसी ही कविता से है।

लोगों का विचार है, कि काशी के प्रसिद्ध कवि स्वनाम-धन्य श्री जयशंकर "प्रसाद" जी ने प्रथम हिन्दी में इस प्रकार की कविता आरम्भ की। फिर निराला जी इस प्रकार की कविता करने लगे और फिर श्री सुमित्रानन्दन पन्त जी ने इसी पथ का अनुसरण किया और अब तो अधिकांश युवक कवियों का झुकाव इसी ओर दृष्टि-गोचर हो रहा है।

हमने इस 'चयनिका' में इसी प्रकार के कवियों के कुछ फूलों को चयन किया है। हम यह नहीं कह सकते कि इस चयन कार्य्य में हम कहाँ तक सफल हो सके हैं। कारण कि एक ही वृक्ष पर कई रंग के पुष्प देखे गये हैं, वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्धि किया है, कि एक ही वृक्ष के पुष्पों में गन्ध तथा मधु भी कम अधिक परिणाम में रहता है। इस बात का निर्णय करना कि किस पुष्प में गंध तथा मधु अधिक हैं और किसमें कम है यह हमारी शक्ति के बाहर की बात है, कारण कि हम स्वयं कवि नहीं, कविता मर्मज्ञ नहीं, हाँ हमें कविता प्रेमी कह सकते हैं सो इसमें भी संदेह है। कारण कि प्रेमी होना भी कठिन काम है।

कुछ भी हो जिस कविता ने हमें पकड़ लिया परिचय होते ही जिससे हमारा पारिवारिक संबन्ध हो गया। उसे ही हमने अपना लिया और अपनी 'चयनिका' में सम्मिलित कर लिया। आशा है कि प्रेमी पाठकों को भी वे आनन्द प्रदायिनी होंगी।

आज कल एक धन्यवाद की भी परिपाटी चल पड़ी है । उन अमर कवियों को जिनके विषय में भर्तृहरि जीने इस प्रकार कहा है

जयन्ति ते सुकृतिनः रस सिद्धा कवीश्वराः
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजंभयम् ॥

उनको धन्यवाद देना तो अनधिकार चेष्टा करना है, हम उन्हें धन्यवाद देही क्या सकते हैं, उन्हें तो पाठक ही धन्यवाद देगें । हाँ इस लिये उनके आभारी अवश्य हैं कि उन्होंने अपना चित्र भेजकर हमारी पुस्तक की ही शोभा नहीं बढ़ाई है प्रत्युत पाठकों के आनन्द को भी द्विगुणित कर दिया है । प्रकाशक महाशय भी धन्य वाद के पात्र हैं जिनकी सद् प्रेरणा और परिश्रम से यह पुस्तक पाठकों के पास तक पहुँच सकी ।

श्री प्रयाग
मार्ग शीर्ष कृ० १०-१९८४

ब्रह्मचारी इन्द्र

सूची

सं०	कवि				पृष्ठ
(१)	जयशङ्कर प्रसाद	...	...	...	१
(२)	आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव	...	...	...	१६
(३)	वंशीधर विद्यालंकार	...	...	...	४१
(४)	सुमित्रानन्दनपन्त	...	...	...	४६
(५)	जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'	...	...	...	७१
(६)	रामचन्द्रशुक्ल "सरस"	...	...	...	७८
(७)	महादेवी वर्मा	...	...	...	८७
(८)	अध्यापिका महादेवी शर्मा	...	...	...	६४
(६)	ज्योति प्रसाद मिश्र "निर्मल"	...	...	...	१०२
(१०)	ब्रजकिशोरलाल "श्याम"	...	...	...	१०६
(११)	शिवदेव उपाध्याय "सतीश"	...	...	...	१११
(१२)	पद्मकान्त मालवीय	...	...	...	११६
(१३)	ठाकुर वीरेश्वर सिंह	...	...	...	१२५
(१४)	शास्त्री कैलाशचन्द्र बी० ए०	...	...	...	१३१

जयशङ्कर प्रसाद

जन्म-तिथि—माघ शुक्ल १०, सं० १९४६

जन्म-स्थान—काशी

निवास-स्थान - काशी

झरना

१

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
मनोहर झरना,
कठिन गिरि कहाँ विदारित, करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधु है लहरी॥

२

कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना,
प्रथम वर्षा से इसका झरना
स्मरण हो रहा शैल का कटना।
कल्पनातीत काल की घटना॥

३

कर गई प्लावित तन मन सारा।
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा॥
हृदय से झरना—
वह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय वन्या ने किया पसारा।
कर गई प्लावित तन मन सारा॥

४

प्रेम की पवित्र परछाँई हैं।
लालसा हरित विटपि झाँई में॥

बह चला झरना,
तापमय जीवन शीतल करना।
बात यह तेरी चतुराई में।
प्रेम की पवित्र परछाँई में॥

अव्यवस्थित

विश्व के नीरव निर्जन में।
जब करता हूँ बेकल, चंचल,
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता है भ्रान्त;
भटकता है भ्रम के वन में,
विश्व के कुसुमित कानन में।
जब लेता हूँ आभारी हो,
बल्लरियों से दान,
कलियों को माला बन जाती
अलियों का हो गान;
विकलता बढ़ती हिमकन में,
विश्वपति, तेरे आँगन में।
जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार;
चमत्कृत होता हूँ मन में,
विश्व के नीरव निर्जन में।

खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई, कमली के भींगे हैं सब तार।
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार॥
भींग रहा है रजनी का वह, सुन्दर कोमल कबरी-भार।
अरुण किरण सम कर से छूलो, खोलो प्रियतम! खोलो द्वार॥
धूल लगी है पद काँटों से बिंधा हुआ है दुःख अपार।
किसी तरह से भूला-भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार॥
डरो न इतना, धूलिधूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार॥
मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश॥
मेरे ऐसे छारों से कब, तेरे पद को है अवकाश॥
पैरों ही से लिपटा-लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार।
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ, पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार॥
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार—
मिट जावे जो तुमको देखूँ, खोलो, प्रियतम! खोलो द्वार॥

दो बूँदें

शरद का सुन्दर नीलाकाश,
निशा निखरी, था निर्मल हास।
बह रही छाया पथ में स्वच्छ
सुधा सरिता लेती उच्छ्वास॥
पुलक कर लगी देखने धरा,
प्रकृति भी सकी न आँखें मूँद।

सुशीतलकारी शशि आया,
सुधा की मनों बड़ी सी बूँद ॥

× × × ×

हरित किसलयमय कोमल वृक्ष,
झुक रहा जिसका पाकर भार।
उसी पर रे मतवाले मधुप !
बैठकर करता तू गुञ्जार ॥
न आशा कर तू अरे ! अधीर,
कुसुम रज-रस से लूँगा गूँद।
फूल है नन्हा-सा-नादान,
भरा मकरन्द एक ही बूँद ॥

किरण

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती-सी तुम कौन ?

अरुण शिशुके मुख पर सविलास, सुनहली लट घुघुराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन ?—उषा के अञ्चल में अश्रान्त।
भला उस भोले मुख को छोड़, और चूमोगी किसका भाल ?
मनोहर यह कैसा है नृत्य, कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद मधु धारा सी तरल, विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द, उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।

स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन, मिलाती हो उससे भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध, बना दोगी क्या विरज विशोक !

सुदिन मणि वलय विभूषित उषा—सुन्दरी के कर का संकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर, किसे दिखलाती प्रेम निकेत।
चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन मन्दिर के खोलो द्वार, जगे फिर सोया वहाँ वसन्त।

बालू की बेला

आँख बचाकर न किरकिरा करदो इस जीवन का मेला।
कहाँ मिलोगे ?—किसी विजन में ?—न हो भीड़ का जब रेला॥

दूर ! कहाँ तक दूर ? थका भरपूर चूर सब अंग हुआ।
दुर्गम पथ में विरथ दौड़कर खेल न था मैंने खेला॥

कहते हो 'कुछ दुःख नहीं', हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस-किसको किसने झेला ?

आने दो मीठी मीड़ों से नूपुर की झनकार, रहो।
गलबाहीं दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला॥

निठुर इन्हीं चरणों में मैं रखाकर हृदय उलीच रहा।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की बेला॥

दीप

धूसर सन्ध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को,
अन्धकार अवसाद कालिमा लिये रहा बरसाने को।

गिरि संकट में जीवन-सोता मन मारे चुप बहता था,
कल कल नाद नहीं था उसमें मन की बात न कहता था।
इसे जान्हवी-सा आदर दे किसने भेंट चढ़ाया है,
अञ्चल से सस्नेह बचाकर छोटा दीप जलाया है।
जला करेगा वक्षस्थल पर बहा करेगा लहरी में,
नाचेंगी अनुरक्त वीचियाँ रञ्जित प्रभा सुनहरी में।
तट तरु की छाया फिर उसका पैर चूमने जावेगी,
सुप्त खगों की नीरव स्मृति कलरव से गान सुनावेगी।
देख नग्न सौन्दर्य प्रकृति का निर्जन में अनुरागी हो,
निज प्रकाश डालेगा जिसमें अखिल विश्व सम भागी हो।
किसी माधुरी स्मित सा होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को

अर्चना

बीणे! पञ्चम स्वर में बज कर मधुर मधु
बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
उस वर्षा में भींगे जाने से भला
लौट चला आवे प्रियतम, इस भवन में।

आश्रय ले; मेरे वक्षस्थल में तनिक।
लज्जे! जा, बस अब न सुनूँ मैं एक भी—
तेरी बातों में से; तूने दुख दिया,
रुष्ट हो गये प्रियतम, और चले गये

यह कैसा संकोच मन! तुझे क्या हुआ!
बड़ी बड़ी अभिलाषायें इस हृदय ने

सञ्चित की थी इस छोटे भाण्डार में;
लज्जावती लता सा होकर संकुचित—

जो अपने ही में छिप जाना चाहता।
यदि साहस हो, उसे खोल कर देख लो,
मन मन्दिर में नाथ हमारी 'अर्चना'
हुई उपेक्षित तुमसे, हँसती है हमें।

स्निग्ध कामना कुसुम रचित यह मालिका—
लज्जित; है प्रियतम के गले लगी नहीं।
प्रियतम! ऐसा ही क्या तुमको उचित था।
प्राण प्रदीप न करता है आलोक वह—

जिसमें वाञ्छित रूप तुम्हारा देख लूँ।
जीवनधन! क्या अश्रु सलिल अभिषेक भी
तृप्त नहीं कर सका तुम्हें! सब व्यर्थ है!
बनो न इतने निर्दय सखे! प्रसन्न हो।

हो जावेगा जब निराश मन फिर कभी
ध्यान हमारा आवेगा, होगी दया।
तो क्या क्षुब्ध न होगे तुम?—यह सोच लो,
फिर, जैसा मन में आवे वैसा करो।

बिखरा हुआ प्रेम

अरुणोदय में चञ्चल होकर, व्याकुल होकर विकल प्रेम से,
मायामयी सृष्टि में सोकर, अति अधीर हो अर्धक्षेम से.

टुकड़े-टुकड़े कर फेंका था जीवन का निगूढ़ आनन्द,
नील-निशा के शून्य गगन में ले फैलाकर छल छन्द,
बनकर तारा निकर मनोहर, उदय हुआ वह उसी नियम से।
रिक्त हुए हम व्यर्थ फेंककर, विकल हुए तम अतुल विषम से॥
प्रणयी प्रणत बनूँ मैं क्योंकर, दुर्बलता निज समझ, क्षोभ से,
जीवन मदिरा कैसे रोकर, भरूँ पात्र में तुच्छ लोभ से,
हाय! मुझे निष्किञ्चन क्यों कर डालारे! मेरे अभिमान
वही रहा पाथेय तुम्हारे, इस अनन्त पथ का अनजान
बूँद-बूँदसे सींचो, पर ये, भींगेंगे न सकल अणु तुम से।
खोजो अपना प्रेम सुधाकर, प्लावित हो भव शीतल हिम से॥

एक तारा

मिट चुका है जीवन का साध।
बता दो मेरा क्या अपराध?
न पूछा "दर्द कैसा है तुम्हारा"
अरे तुमने, मुझे ऐसा बिसारा!
चन्द्र-दर्शन से हुआ निराश,
तारका भी देते न प्रकाश,
न निकला अश्रु आँखों से हमारे।
तुम्हारा ही उसे केवल सहारा॥
गा रहा हूँ बस दुख का राग,
मिल गया विराग में अनुराग,
न वीणा ही रही, वंशी कहाँ है?
हृदय मेरा हुआ है एकतारा॥

प्रेम के मँगते को दो दान,
न दो तो, करो नहीं अपमान,
हमारी दीन की लकुटी न तोड़ो।
भिखारी को रहा इसका सहारा॥

एक दिन मुझ को भी निश्शङ्क,
लगा रखते थे अपने अङ्क,
अरे निर्दय तुम्हें दुःख में पुकारा।
न पूछा हाल भी तुमने हमारा॥

कब ?

शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी?
वर्षा इन आँखों से होगी, कब हरियाली छावेगी?
रिक्त हो रही मधु से, सौरभ सूख रहा है आतप से;
सुमन कली खिलकर कब अपनी पंखड़ियाँ बिखरावेगी?
लम्बी विश्व कथा में सुख निद्रा समान इन आँखों में—
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी?
मन-मयूर कब नाच उठेगा कादंबिनी छटा लखकर;
शीतल आलिंगन करने को सुरभि लहरियाँ आवेंगी?
बढ़ उमंग सरिता आवेगी आर्द्र किये रूखी सिकता;
सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी?

स्वभाव

दूर हटे रहते थे हम तो आप ही।
क्यों परिचित हो गये?—न थे जब चाहते—

हम मिलना तुमसे। न हृदय में वेग था।
स्वयं दिखा कर सुन्दर हृदय मिला लिया
दूध और पानी-सा; अब फिर क्या हुआ?—
देकर जो कि खटाई फाड़ा चाहते।
भरा हुआ है नवल मेघ जल-बिन्दु से,
ऐसा पवन चलाया, क्यों बरसा दिया!
शून्य हृदय हो गया जलद, सब प्रेम-जल—
देकर-तुम्हें। न तुम कुछ भी पुलकित हुए।
मरु धरणी-सम तुमने सब शोषित-किया।
क्या आशा थी!-आशा-कानन को यही!
अञ्चल हृदय तुम्हारा केवल खेल था,
मेरी जीवन-मरण-समस्या हो गई।
डरते थे इसको, होते थे संकुचित—
"कभी न प्रकटित तुम स्वभाव कर दो कभी।"

असंतोष

हरित बन कुसुमित हैं द्रुम-वृन्द,
बरसता है मलयज मकरंद।
स्नेह मय सुधा दीप है चन्द;
खेलता शिशु होकर आनन्द।
क्षुद्र गृह किंतु हुआ सुख मूल; उसी में मानव जाता भूल।
नील नभ में शोभित विस्तार;
प्रकृति है सुन्दर, परम उदार।

नर हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ;
बात जँचती कुछ नहीं यथार्थ।
जहाँ सुख मिला न उससे तृप्ति; स्वप्न सी आशा मिली सुषुप्ति।
प्रणय की महिमा का मधु मोद,
नवल सुखमा का सरल विनोद,
विश्व गरिमा का जो था सार,
हुआ यह लघिमा का व्यापार।
तुम्हारा मुक्तामय उपहार, हो रहा अश्रुकणों का हार।
भरा जो तुमको पाकर भी न;
हो गया छिछले जल का मीन।
विश्व भर का विश्वास अपार,
सिन्धु-सा तैर गये उस पार।
न हो जब मुझ को ही संतोष; तुम्हारा इसमें क्या है दोष!

अनुनय

उसी स्मृति-सौरभ में मृग-मन मस्त रहे
यही है हमारी अभिलाषा सुन लीजिये।
शीतल हृदय सदा होता रहे आँसुओं से।
छिपिये उसी में मत बाहर हो भीजिये॥
हो जो अवकाश तुम्हें ध्यान कभी आवे मेरा
अहो प्राणप्यारे, तो कठोरता न कीजिये।
क्रोध से, विषाद से, दया या पूर्व प्रीति ही से,
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिये॥

प्रियतम !

क्यों जीवन-धन ! ऐसा ही है न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र ?
लिखते हुए लेखनी हिलती, कँपता जाता है यह पत्र ।
औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं ।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं ॥
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया ॥
प्रेम नहीं, करुणा करने को क्षण-भर तुमने समय दिया !
अबसे भी तो अच्छा है, अब और न मुझे करो बदनाम ।
क्रीड़ा तो हो चुकी तुम्हारी, मेरा क्या होता है काम ?
स्मृति को लिये हुए अन्तर में, जीवन कर देंगे निःशेष ।
छोड़ो, अब दिखलाओ मत, मिल जाने का यह लोभ विशेष ॥
कुछ भी मत दो, अपना ही जो मुझे बना लो, यही करो ।
रक्खो जब तक आँखों में, फिर और द्वार पर नहीं धरो ॥
कोर बरौनी का न लगे हाँ, इस कोमल मन को मेरे ।
पुतली बन कर रहें चमकते, प्रियतम ! हम दृग में तेरे ॥

कहो ?

शिथिल शयन सम्भोग दलित कबरी के कुसुम सदृश कैसे,
प्रतिपद व्याकुल आज छन्द क्यों होते हैं प्रियतम ! ऐसे ?
वाणी मस्त हुई अपने में, कुछ न कहा जाता;
गद्‌गद् कण्ठ स्वयं सुनता है जो कुछ है वह कह जाता ॥
ऊँचे चढ़े हुये वीणाके तार मधुप—से गूँज रहे,
पर्दा रखते हैं सुर पर वे मनमाने-से बोल रहे ।

जीवन-धन ! यह आज हुआ क्या बतलाओ, मत मौन रहो,
वाह्य वियोग, मिलन या मनका, इसका कारण कौन कहो ?

निवेदन

तेरा प्रेम हलाहल प्यारे, अब तो सुख से पीते हैं।
विरह-सुधा से बचे हुए हैं मरने को हम जीते हैं॥
दौड़-दौड़ कर थका हुआ है, पड़ कर प्रेम-पिपासा में।
हृदय खूब ही भटक चुका है, मृग-मरीचिका-आशा में॥
मेरे मरुमय जीवन के हे सुधा-स्रोत ! दिखला जाओ।
अपनी आँखों के आँसू से इसको भी नहला जाओ॥
डरो नहीं, जो, तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुखको 'चुप' कर देगा॥

प्यास

हृदय की दारुण ज्वाला से,
हुए व्याकुल हम उस दिन पूर्ण।
देखतीं प्यासी आँखें थीं,
रस भरी आँखों को मदघूर्ण॥
प्यास बढ़ती ही जाती थी,
बुझाने की इच्छा थी बड़ी।
बढ़ाया तुमने प्याला था,
अचञ्चल चित्त हुआ उस घड़ी॥
राग रञ्जित थी वह पेया,
उसे पीते पीते रुक गये।

प्रश्न मेरा यह उनसे था,
पूछने से वे प्रमुदित हुए॥
नशीली आँखों सदृश कहो,
तुम्हारी ही इसमें है नशा?
"गुलाबी हलका-सा" बोले,
स्तब्ध हो रही मोह की निशा॥
मौन थे सुना, प्रश्न मेरा,
"सदा यह बनी रहेगी भली।"
कँटीला था गुलाब चैती,
उठी चटचटा उसी की कली॥
उषा आभास चन्द्रिका में,
पवन -परिमल-परिपूरित सङ्ग।
बढ़रही थी प्राची में वह,
बदलता था नभ का कुछ ढङ्ग॥
कहा व्याकुल हो मैंने भी,
तुम्हारे कोमल कर से वही—
चाहता पीना मैं प्रियतम,
नशा जिसकी उतरे ही नहीं॥
हृदय! की बात नवीन कली—
सदृश हम खोल कह चुके हाय!
फुल्ल-मल्लिका सदृश वह भी,
चुप रहे जीवनधन मुसक्याय॥

पी ? कहाँ ?

डाल पर बोलता है पपीहा—
"हो भला प्राणधन, तुम कहाँ ?-हा !
आ मिलो हो जहाँ
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?
प्यास से मर रहे दीनचातक
क्यों बना चाहते प्राण-घातक ?
श्याम-घन ! हो कहाँ ?
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?
नभ-हृदय में घिरी मेघमाला
चंचला कर रही है उँजाला ॥
देख लूँ, हो कहाँ
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?
जलमयी हो रही यह धरा है।
कण्ठ फिर भी न होता हरा है ॥
प्यास में जल रहा
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?
प्यास कैसी तुम्हारी ? पपीहा !
कम न होकर बढ़ी जा रही हा !
लो, वही कह रहा —
पी ! कहाँ ? पी ! कहाँ ?

अतिथि

हृदय-गुफा थी शून्य,
रहा घोर सूना।

इसे बसाऊँ शीघ्र,
बढ़ा मन दूना ॥
अतिथि आ गया एक,
नहीं पहचाना
हुए नहीं पद-शब्द,
न मैंने जाना ॥
हुआ बड़ा आनन्द,
बसा घर मेरा ।
मनको मिला विनोद ।
कर लिया घेरा ॥
उसको कहते "प्रेम"
अरे अब जाना ।
लगे कठिन नख-रेख,
तभी पहचाना ॥
अतिथि रहा वह किन्तु,
न घर बाहर था ।
लगा खेलने खेल,
अरे, नाहर था ॥

सुधा में गरल

१

सुधा में मिला दिया क्यों गरल ।
पिलाया तुमने कैसा तरल ॥
माँगा होकर दीन,

कंठ सींचने के लिये;
गर्म्म झील का मीन,
निर्दय तुमने कर दिया ॥
सुना था तुम हो सुन्दर ! सरल ।
सुधा में मिला दिया क्यों गरल ॥

२

राग रञ्जित सन्ध्या हो चली ।
कुमुदिनी मुकुलित हो कुछ खिली ॥
तारागण नभ प्रान्त,
क्षितिज क्रोड़ में चन्द्र था ।
फैला कोमल ध्वान्त,
दीपक जल कर बुझ गये ।
हमें जाने की आज्ञा मिली ।
राग रञ्जित सन्ध्या हो चली ॥

३

विजन बन, आधी रजनी गई ।
मधुर मुरली ध्वनि चुप हो गई ॥
थी मुझको अज्ञात,
शुक्ल पक्ष की अष्टमी,
बीते कैसे रात,
अस्त हो गई कौमुदी—
राह में हीं, वह भी है नई ।
बिजन बन आधी रजनी गई ॥

चयनिका

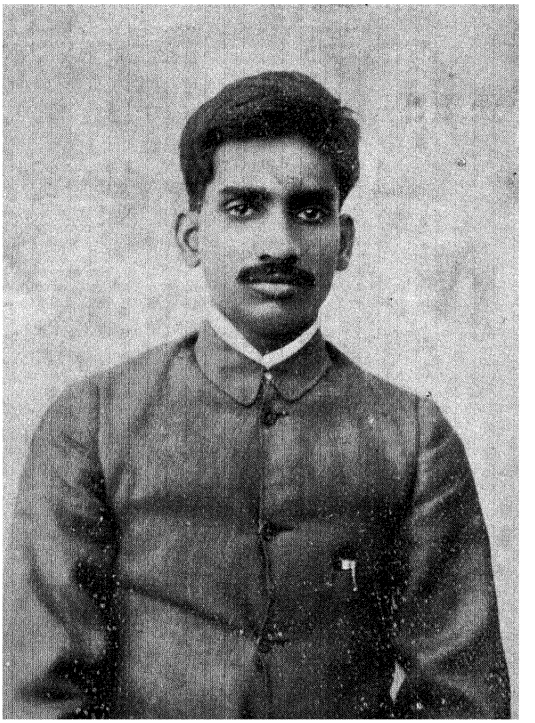

श्रीआनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव

श्रीआनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव

अध्यापक

कायस्थ पाठशाल प्रयाग

जन्मदिवस—वै० कृष्ण ३ सं० १९२६

जन्म-भूमि—फ़तेहपुर कायस्थान

तहसील-सोराँव

प्रयाग

विदा

विरह-निशा की सन्ध्या हो तुम,
दाह-दिवस का का प्रातः काल,
प्रेम-सृष्टि के उपद्रवों की
जड़, नर के जी का जञ्जालः
तुम रमणी हो या छलिया हो,
रक्खे हो क्यों भ्रामक नाम,
रमणी के कामों से मिलते
नहीं तुम्हारे निष्ठुर काम ?
चञ्चल मृदु साहस से करके
बाधाओं की गति का रोध,
या कि शान्त करके यत्नों से
प्रणय-मान का मधुमय क्रोध,
विजन कुञ्ज या रङ्ग-भवन में
पा उपयुक्त मनोरम काल,
फुसला कर या बल पूर्वक या
प्रवञ्चना से करके जाल,
देखा है रमणी को करते
सदा स्नेहियों का संयोग,
ललना में है पर-वियोग पर
हृदय धड़क उठने का रोग !
बालाओं को गुड़ियों के
वियोग पर भी रोते देखा,
द्रुम से स्खलित देख लतिका
कुछ बदन म्लान होते देखा

फूल तोड़ते देख किसी को
देख शकुन्तला का रोष,
देखा मोती सा बरसाता
उसका वह करुणा का कोष
किन्तु तुम्हारे निठुर कार्य से
होता मृदु हृदयों पर घाव
क्यों तुममें यों परिवर्तित है
वह रमणी-कुल सुलभ स्वभाव ?
विदे, कलङ्कित सा है तुमसे
ललना-कुल का मृदु संसार,
हाय जहाँ पद पड़े तुम्हारे
वहीं बही आँसू की धार !
दो अभिन्न हृदयों के ऊपर
डाल उदासी की छाया,
उन्हें भिन्न करती रहती हो
फैला कर अपनी माया,
अथवा दृढ़ बन्धन करने को
रच देती हो कभी वियोग,
जो न रहे वियोग दुनियाँ में
तो क्या रह जावे संयोग !
निष्ठुर कर से धीरे धीरे
तुम अपना काला अञ्चल,
जिनके बीच उठा देती हो
करती उनके नयन सजल,
त्रस्त देखते रह जाते हैं
वही तुम्हारा भीषण वेश,

वह कुञ्चित मुस्कान तुम्हारी
तम-स्वरूप ब्रग रांधक केश,
मा को बच्चों से बिछुड़ाती
पत्नी को पति से क्यों हाय ?
अहित किया करती हो या तुम
करती नित हित पूर्ण उपाय !
क्योंकि भुला सकता है हमको
गुण न, तुम्हारा दोष-विचार
कभी हमारे हो जाते हैं
तुमसे भी भारी उपकार !
नई बधू को भेज पति-भवन
करती हो जो सुन्दर काम,
उससे निष्ठुरता धुलती है
हो जाती कीर्ति ललाम !
दिखलाती हो करुणा धारा,
में डुबकी लेता शृङ्गार,
मिल आशा का आच्छादन सा
दिखलाती आँसू का हार,
बन कर नौका पार करा के
नई वधू से दुख सागर,
उसके लिये बना देती हो
नूतन एक सृष्टि सुन्दर,
आँसू के सागर को मथ कर
देती हो जो रत्न ललाम,
अनुपमेय है वह, "पहली
जीवन-स्मृति" है उसका शुभनाम !

इससे भी बढ़ कर करती हो
देवि मनुज का तुम उपकार,
कर देता हो जब तुम उससे
पृथक मोह-मय यह संसार
गुरु बन कर सिखलाती हो
तुम नर को व्यवहारिक त्याग,
परम-ज्योति के पास उसे तुम
ले जाती बन कर वैराग्य
व्यर्थ हमारी वह निन्दा थी
अब टूटा है भ्रम का जाल,
जन्म दिया इस जग में प्रभु ने
तुमको कर उपकार विशाल,
होते हम न वियुक्त स्वयं तो,
रुक जाता सब कारोबार ।
बिना तुम्हारे आलस-नद में
बह जाता सारा संसार ।

प्रेम

तुम्हारे जननि-जनक अज्ञात,
न होता जन्म-काल भी ज्ञात,
न तुम सुख-स्वप्नों के अवतार,
नहीं हो तुम नयनों के वार,
तुम्हारी जाने कैसी धार,
तुम्हारा है अदृश्य संसार,
न तुम मन के स्वरूप-वन्दन,

नहीं तुम गुण के अभिनन्दन,
न तुम हो हृदयों के सङ्घात,
न उनके घात और प्रतिघात,
नहीं हो तुम मृदु आलिङ्गन,
न तत्कालीन हृदय-स्पन्दन,
नहीं हो तुम छल-कपट-निधन,
न दो हो हृदयों के बन्धन !
नहीं तुम क्षणिक त्याग के भाव
किसी पर मर मिटने के चाव,
कहाँ होना सह-अधोगमन ?
न हो तुम तो सह-ऊर्ध्वगमन,
न तुम पर के हित अश्रु विधान,
न तुम पर को सर्वस्व-प्रदान,
न जब कालिप्त हो सकता तन,
लगा क्यों आने मन में मन,
छान डाला सारा संसार,
बहुत देखे विवाह-संस्कार,
सदा करती जाती है डोर,
बाँधने को परिणीत हृदय,
बँधी मिलती बस हृदय-हिलोर,
डोर बनता सामाजिक भय।
न बँध सकते जब यहाँ हृदय,
मिलेगा क्या तुमको आश्रय ?
मधुर है निश्चय प्राणिग्रहण ?
समझ लो हृदय हृदय का वरण
किन्तु क्या हुआ तुम्हारा वरण

न जिससे जिसका जन्म-विधान
उसे वह कैसे करे प्रदान ?
किसी संसृति में दोष-अभाव
नहीं हो सकता गुण का भाव ।
मिलन के हमने देखे खेल,
युवक युवती के ठिठके मेल,
मधुर वह सङ्कोचों का जाल,
दृगों का मिलन, हृदय की चाल,
कभी बल पूर्वक श्लेष-प्रसाद,
अनोखा हाव-भाव-उन्माद,
कभी धीरे धीरे आ पास,
हाथ मिलना मुग्धा का वास,
अन्ततः धृष्ट बाहु का पाश,
कली चुम्बन का मधुर-विकास,
कभी अति कठिन लाज का वास,
मुग्ध दृढ़ता का प्रथम विलास,
आँख का तो हो जाना बन्द,
साँस का बढ़ा हुआ निस्पन्द,
उरोजों का उन्नत आस्फाल,
निकट तर आते वक्त रसाल,
खिसक जाना अञ्चल जञ्जाल;
सकुचते उर में मधुर उबाल,
किसी उर की फिर एक छलाँग,
दूसरी ओर शिथिल अङ्गाङ्ग,
सदय मृदु निर्दय आलिङ्गन,
उष्णतम काम-केलि-प्राङ्गण ।

अगर होते तन-बदन विधुर,
न होते ऐसे अङ्ग मधुर,
न होते जो उरोज चुम्बक,
न होते जो बल-वीर्य्य-दमक,
वासना का होता अवसान,
न टिकते यहाँ प्रेम के प्राण।
प्रौढ़ नायक-नायिका-मिलन,
हृदय का वह सुस्थिर स्पन्दन,
नायिका की लज्जित मुस्कान,
तोषमय नायक की मृदु आन,
परस्पर हित का सरस विधान,
जकड़ने को बन्धन बहु मान,
यहाँ पर भी है काम प्रधान,
उसी में कायावलि-पुट-दान, ।
मदन प्रेमारि, कामना बाम,
न होते बद्ध प्रान निष्काम,
सुतादिक की नित सह-चिन्ता—
मात्र उनकी है आकुलता,
परस्पर उनमें नहीं खिंचाव,
साथ है सदा स्वार्थ का भाव!
देख ली सब नातेदारी
वहाँ मति तुम्हें ढूँढ़ हारी
पिता का भी देखा है प्रेम,
ध्येय होता निज भावी क्षेम।
देश-सेवा का देखा खेल,
यशो वाञ्छा, निज हित का मेल,

भक्त का देखा प्रभु का प्रेम,
श्रेय-भिक्षा, सङ्गति का प्रेम,
कहीं है गुप्त द्रोह अज्ञात,
कहाँ है रूप मोह अज्ञात.
बहुत देखा मित्रों का प्रेम!
परस्पर नित कृति मय उत्कर्ष,
यही है उसका चरम प्रकर्ष,
लखा सन्यासी का जग प्रेम
बहुत, तो वाञ्छामय जग-क्षेम।
वन्दि-गृह में पिटते देखा,
बड़ा है निश्चय स्वार्थ-त्याग
पर यहां स्वल्प प्रेम का भाग।
मनुज शूली चढ़ते देखा,
जगत में यश बढ़ते देखा,
सुषम है, पर यह न्याय-प्रचार
न्याय-बलि होने का व्यापार।
किसी में मिल जाने की बान,
किसी में खो देने की जान,
छोड़ कर सदा मान सम्मान,
छोड़ कर आत्मा का अभिमान,
हिताहित का सब तज कर ध्यान,
हृदय की कुछ प्रवृति अनजान!
न मन कितनों का है उलझा
तुम्हें कितनों ने है समझा?
बुलाते मा के अञ्चल में
बालकों के मन चञ्चल में,

तुम्हारा बहुत अंश मिलता,
किन्तु, वह अपभ्रंश मिलता।
देह शिशु की मृदु मद-माती
उमड़ती चली निकट आती
चुवाती पय मा की छाती
स्थूल होकर पछताती,
नहीं तो सुत से मिल जाती,
उसी में कैसी खिल जाती!
किन्तु दुनिया के भाव सघन,
प्रेम में अपना कर मिश्रण
उसे कर क्रमशः सांसारिक
काँच—सा कर देते हैं माणिक।
तुम्हारा वह स्वरूप देखा,
कि जिसका हो न सका लेखा
दिव्य अति दिव्य रूप देखा
सती का जब स्वरूप देखा!
चिता स्पन्दन की, बिखरे बाल,
जगाते प्रथम सती की ज्वाल,
जलाते चिता रूप जग-जाल,
ज्योतिमय काले काले बाल
दहक उठती फिर चिता विशाल,
लपक धूँ धूँ करती विकराल!
मधुर आतङ्कों का आभार,
न होता करुणा का सञ्चार,
न उजियाला है आशा का,
न तम है यहाँ निराशा का,

यहाँ है बस बे-परवाही,
शान्त-रस की नादिरशाही,
एक आत्मा की है परवाह,
एक में मिल जाने की चाह,
चिता पर जग-चिन्ता का दाह,
जलाती है सब लापरवाह,
बच गई (कहता है जग वाह !)
एक में खो जाने की चाह !
कहाँ है अपना जीवन धन,
सुशोभित करता कौन भवन ?
खोजती है वह बे-परवाह,
उसी में खो जाने की चाह ?
स्थूल है वह अथवा आत्मा,
भूत है अथवा परमात्मा,
सोच है उसका लापरवाह,
बस वही हो जाने की चाह !
विश्व-व्यापक हो कर यह चाह
छान डालेगी विश्व अथाह।
किये थी जिससे कभी विवाह,
नित्य उसमें रहने की चाह !
न रुक सकता दुर्दान्त प्रवाह,
राह देता जगके आह !
खोजती पति को ला-परवाह,
उसी में मिल जाने की चाह !
और भी एक रूप देखा,
दिव्य विस्तृत स्वरूप देखा,

परमहंसों के मानस में,
व्याप्त सा उसकी नस नस में,
विश्व में मिल कर खिलने की,
चाह कण कण में मिलने की !
भवन हो अथवा हो उपवन,
दुर्ग हो या हो बीहड़ बन !
राव हो अथवा रङ्क निपट,
सरलता हो या क्रूर कपट,
सत्य वादी मिथ्यालापी,
महात्मा हो अथवा पापी,
सुजन हो अथवा हो दुर्जन,
मुक्ति हो अथवा हो बन्धन,
सभी सम हैं उनके मनमें
चाह मिलने की कण कण में !
खगों के संगमें गावेंगे,
फूल के सँग खिल जावेंगे,
न दबती कहीं किसी क्षण में,
चाह मिलने की कण कण में !
उड़ेंगे वे तितली के साथ,
बिकेंगे इन्द्र-धनुष के हाथ,
प्रखर होती जाती क्षण क्षण,
चाह हो जाने की कण कण !
विश्व का बन करके घेरा,
लगाती कण कण में फेरा,
ठहरती नहीं किसी क्षण में,
चाह मिलने की कण कण में !

कर सभी परदों का भेदन,
सभी पथ-कण्टक का छेदन,
सतनु का बे-तन करके नाश,
व्यक्त कर कर के ब्रह्म प्रकाश,
वही बन जावेगी क्षण क्षण,
वही बन जावेगी कण कण!
तरङ्गों में हो जल के वे,
अनिल-गति, प्रभा-अनल में वे,
हृदय बन उनका गगन अनन्त,
सुरभि हो उनकी व्याप्त दिगन्त!
धरा की क्षमा-शीलता बन,
सतत अणु-कार्य्य-शीलता बन,
व्याप्त होंगे वे जन जन में,
व्याप्त होंगे वे कण कण में!
तुम्हारे मिलते हैं ये रूप,
तीन तम, रज, सत के अनुरूप,
छोड़ पावें संसृति-कूप,
न जाने कौन दिखेंगे रूप!
बहुत से होवेंगे तब रूप
कि होगा केवल एक स्वरूप!

चितवन

(१)

तुम्ही से हुआ तुम्हारा भान,
तुम्हारी छवि का तुमसे ज्ञान,

(३२)

तुम्हारा तुमको ही अभिमान,
अलख, अज्ञात, विधान !

(२)

भला अपने जीवन के भोर,
निकल कर कब कैसे किस ओर,
जगत पर की यह करुणा-कोर,
नयन की मृदुल हिलोर !

(३)

स्वयं चैतन्य, ज्योति-कृश-धार,
निपति से पाकर नयनागार,
सारमपि, किया असार संसार,
तुम्हीं में है संसार !

(४)

एक थीं तुम तब था अज्ञात,
तुम्हें निज, रूप, अलौकिक बात,
प्रकाशक संसृति की प्रख्यात,
स्वयं तममय तम-जात !

(५)

एक थीं तुम तब था संसार,
आत्म-विस्मृत, अनन्य, अविकार,
तुम्हारा द्वैत पाश-अवतार,
द्वैत फिर सृष्टि अपार !

(६)

निकल बिजली-सी एकाएक,
अज्ञता से हो यथा विवेक,

मध्य जड़ता चैतन्योद्रेक,
एक से हुई अनेक !

(७)

तुम्हारा लड़ जाना भी मेल,
वेधना हृदय एक है खेल,
सुरभि से भी कोमल सुकुमार,
तोर बन करतीं वार !

(८)

किरण, चुप नरकी जिह्वा, कान,
सकल भावों की कल परिधान,
हृदय का, मनका द्वार प्रधान,
छविमयी छवि पहिचान !

(९)

नयन द्वय की तुम एक प्रसूति,
स्वयं अनुभवी, स्वयं अनुभूति,
विश्व विस्मय-कर चपल विभूति,
चतुर मनसिज की दूति !

(१०)

गिरा जब हो जाती दीन,
उस समय बन कर गिरा नवीन,
भाव करने में व्यक्त प्रवीण,
मनोहर नीरव वीण !

क्षणिक मिलन

सुख स्वप्नों का सुषम सार था,
क्षणिक हमारा वह मिलना।
जीवन की गाड़ी का चलना,
था उस झंडी का हिलना॥
अच्छा है जीवन में सुख दुख—
का आते जाते रहना।
अति सुन्दर है चिर वियोग में,
क्षणिक मिलन का मृदु बहना॥
मिलना था मृदु दबी आग का,
जलना, नहीं मचल जाना।
मधुर निशा के पूर्ण राज्य में,
मादक आँधी का आना॥
क्या हो सकता है दृग-रञ्जन.
कभी नितान्त शान्त सागर।
लहरों का उठना गिरना ही,
सागर का शृंगार अमर।
झिल मिल उत्कण्ठा का दीपक.
अस्थिर मनका मृदु गाना।
कभी धड़कना मन का आतुर,
कभी रुचिर का बह जाना॥
सकुचना पग पग पर साहस,
का भी सकुच आना।
दो दो आँखों का दो दो,
आखों पर परदा पड़ जाना॥

अर्थ हीन भावुक बातें,
फिर जिह्वा का विमुग्ध होना।
नीचे नयनों से गिर भूपर,
रज में साहस का खोना॥
गालों पर व्रीड़ा को क्रीड़ा,
भाल-लसित श्रम-कण अभिराम।
गिरा अलिनि का फड़क फड़क कर,
अधर-पल्लवों से संग्राम॥
बचनों के प्यारे फूलों का,
छिपे पल्लवों में रहना।
कातर नयनों का भी मुग्धा,
बन निर्भीपा में बहना!
सारी उन सोची बातों का,
बिना कहे ही कह पाना।
अवसर खो कर भी अवसर का,
सदुपयोग था मनमाना॥
यह वियोग का शुभ वियोग था,
क्षणिक मिलन से मेल विकाम।
आँख-मिचौनी थी अनजानी—
इच्छाओं को मन्द लताम।
चिर-वियोग की घनावली में,
चमकी थी वह क्षण-प्रभा।
हुई मलिन तब से नयनों को,
चन्द्र-प्रभा जगमगी सभा॥
उन बीते दिन की स्मृतियों ने,
फिर से मानस मुग्ध किया।

प्रथम प्रणय की मन्थानी ने,
जब मन्थित मन दुग्ध किया॥
क्षणिक मिलन हो, सतत मिलन हो,
प्रेम न असफल हुआ कभी।
अधिक विरह की प्रखर कसौटी,
पर छल निष्फल हुआ अभी।
कहना सुनना क्या दोनों ने
दोनों के मन की जानी।
दो नयनों ने मृदु भाषा वह,
दो नयनों की पहचानी॥
भावों के नीरव प्रश्नों का,
भावों का नीरव उत्तर।
श्वास श्वास का, आँसू का भी,
आँसू का उद्भव उत्तर॥
गया क्षणिक आनन्द किन्तु है,
हमें न कुछ कहना सुनना।
कैसी मधुर चोट अनुपम है
मन का यह तनना बुनना!
सदा धैर्य्य का डगमग होना,
मधुर मधुर मन का घुलना।
उड़ न जाय सुषमा! सभेद—
मन का न कभी ताला खुलना।
मधुर आँच कोई चमकेगी,
मन में मेरे आजीवन।
जला करूँगा, खिला करूँगा।
भला करूँगा सब जीवन॥

जब शव मेरा जलन होगा।
तब चमकेगी अभिलाषा।
हो अनन्त में लीन उसी दिन,
सफल करूँगा सब आशा॥
दुनिया जाने या कि न जाने,
किसको मैंने प्यार किया।
किससे फँस कर, रोकर, हँस कर,
सारा जीवन पार किया॥
किसको अपना जान पराया—
सा जग से व्यवहार किया।
उसे न पाया, किन्तु उसी में,
डूबा, जीवन तार दिया॥

वसन्त

(१)

ऋतु पति से मिलने को वसुधा का सफल नूतन शृंगार।
नये हुये से पाचों तत्वों का बदला प्रमत्त व्यवहार!
मृदुल कपोलों की सारी में फूलों के भूषण नाना।
मंद पवन की छेड़ छाड़ में सारी का उड़ उड़ जाना!

(२)

नभ मण्डल में अश्रुत केवल मन स्पर्शी लय का गुञ्जन,
होता हुआ वायु मण्डल में अविरल गुरु अव्यक्त हवन!
या रह कर अदृश्य चन्दन का सिक्त विराट व्यजन डुलाना,
मृदु थपकी की मादकता में कलियों का हिलना डुलना!

(३)

नव कुसुमों का नव विकासमय वासन्तिक वैभव कानन,
अपने ही गायन पर मोहित नृत्य शील विहँगों का मन!
मृदु आन्दोलित लता द्रुमों का मन्दस्पन्दित आलिंगन,
यौवन से अस्थिर सुमनों का मत्त मधुप से मधुर मिलन!

(४)

सुमनों के अविराम स्फुरण पर मलयानिल का मृदु अभिमान,
कलियों का कुछ ठिठक ठिठककर मृदु झिड़की से करना मान!
सदय उषा का देजाना वनको असंख्य मुक्ता का दान।
मृदु रञ्जित उसमें फैलाना निज अंचल का अचिर वितान!

(५)

सन्ध्या का इस वनमें करना, फूल और कलियों से बात!
उद्‌गुम्फित कल अलकावलि से स्वर्णाञ्चल का मृदु संघात!
सर के स्वच्छ सलिल में मृगयित कुञ्जों का झुकझुक जाना!
कर गुनगुन गुञ्जार मिलिन्दों का उनपर रुकरुक आना!

(६)

सर प्रति-विम्बित कञ्ज भृङ्ग की लहरों से मिलकर हिलना!
नये हाव से, नये भाव से जल में नया सुमन खिलना!
पाटल की प्रसून माला का मोदमयी वसुधा करना,
अनायास अलि—सुमन-मिलन में शूल विरोध-सुधा भरना!

(७)

पाटल-विटपावलि के ऊपर गाते हुए असंख्य भ्रमर!
अङ्गारे विरही के हित, आक्रमण श्याम—घन का उन पर!
किन्तु प्रकृति से जो वैरी है उससे होता नहीं भला,
घन का कृपा पात्र पाकर अपने को विरही और जला!

(८)

बिरही का सहना मधु-मन्त्रों से प्रेरित पुष्पों के बाण,
उपमा पाना शिव की करना सुषमा सागर का विषपान !
बौरे हुए रसाल द्रुमों का मृदु सौरभ वितरण करना !
मादकता दिगन्त में भरना धैर्य प्राणियों का हरना !

(९)

हलकी ज्योत्स्ना की धारा में मधु-सुषमा का मुख धोना !
हलकी अँधियारी में उसका लज्जा तज कर श्रम खोना !
कलिकाओं को वास-सुरभि में तरुण-चन्द्रिका का मिलना !
सुन्दर वासन्तिक दिगन्त में, मुदित कुमुदगण का खिलना !

(१०)

धूप छाँह का तमश्चन्द्रिका का बदला ताना बाना—
उन पर होकर मृदु भावों का हृदयों पर आना जाना !
पिक के कलित कण्ठ से निकली तीक्ष्ण तीर सी मादक तान !
मदन महिप की महा छावनी का जग में अविकल आह्वान !

(११)

कण कण में निर्बाध व्याप्त हो अथक मधुरिमा का नर्तन,
चरम सुखमता दिखलाने को यह विशेष-पट-परिवर्तन !
बहती गुप्त, काल-धारा में बहता भावों का कानन !
फँसा प्रचण्ड बसन्त भँवर में खो सवेग गति का बन्धन !

(१२)

उसके स्वर्गिक अन्तराल से नूतन बासों का सुविकास !
उसकी बनदेवी के न्यारे गायन की नित नई मिठास !

सरसों के सुमनों का पहिने बसुधा पति सरस परिधान !
शीत ग्रीष्म के मधुर सम्मिलन में जीवों की स्फूर्ति महान !

(१३)

पीताम्बर-मण्डित मनुजों का मिलन कृष्णमय जग सारा।
सब पशुओं का मत्त विचरना, गौओं का दुलार न्यारा,
सत रज तम के उस मिश्रण का कब आवेगा मधुर बसन्त,
जिसमें होगा माया के गुरु गोरख धन्धे का बस अन्त ?

+ + +

मानस ही तनमय शरीर, निर्लेप भाव हो पीताम्बर,
परम ज्योति ही जीव बने यों बसें कृष्ण सब के भीतर !

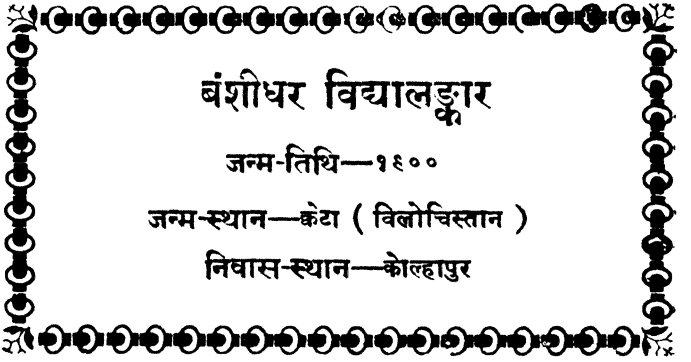
बंशीधर विद्यालङ्कार
जन्म-तिथि—१९००
जन्म-स्थान—क्वेटा (बिलोचिस्तान)
निवास-स्थान—कोल्हापुर

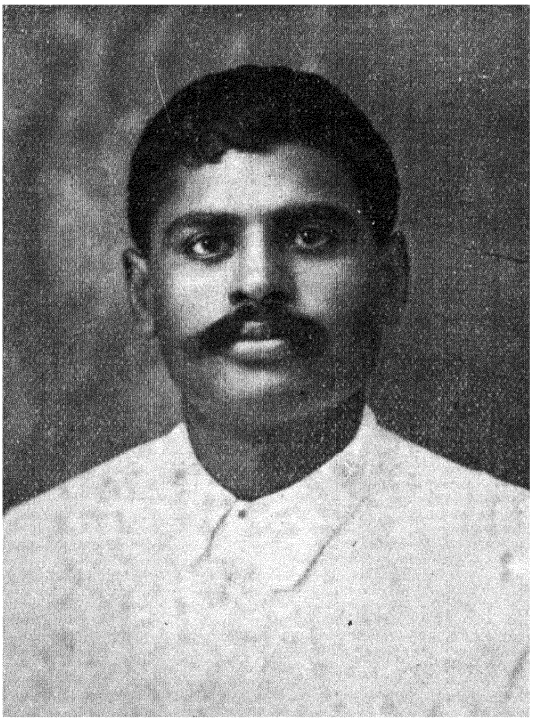

श्रीवंशीधर विद्यालङ्कार

[१]

अनन्त-व्यथा

कब अनन्त आँखों से तेरा,
हे ! अनन्त ! दर्शन होगा ?
कब अनन्त जिह्वाओं से प्रभु !
तेरा गुण - कीर्तन होगा ?
कब अनन्त कानों से मधुमय
तेरा नाम श्रवण होगा ?
कब अनन्त बाहों से प्यारे !
तेरा आलिङ्गन होगा ?

तुझ असीम में सीमाएँ सब, कब जाएँगी टूट ?
बेहद दुःख अनन्त होने का, कब जायेगा छूट ?

[२]

दीपक !

किसकी विरह भरी चिन्ता में,
तू जलता है सारी रात,
हे ! दीपक ! तेरी आशा को
पूर्ण करेगा रम्य प्रभात ।
धक धक करती इस दुखिया की,
पर छाती रह जायेगी,
अगली रातों में जल जल कर
तेरा साथ निभायेगी ॥

[३]

सम्बोधन !

मेरे हो तुम जीवन - ऐसे,
तुम करते सम्बोधन ,
नित्य मुझे प्यारे ! पर चञ्चल
स्वप्न सदृश है जीवन ।
कहो मुझे आत्मा तुम मेरी,
यह सम्बोधन तेरा ,
होगा ठीक क्योंकि आत्मा-सम,
प्रेम अमर है मेरा ॥

[४]

आँसुओं का झरना

तेरी काव्यमयी आँखों से जो झरना है झरता ।

(१)

शैल-हृदय के वह टुकड़े कर,
उसमें नव संजीवन को भर ।
अतुल रागिनी अन्तरिक्ष की नीरवता में भरता ।

(२)

ऊपर से नीचे को आता,
इसका वेग कौन लख पाता ।
देव मर्त्य का एक सूत्र में है यह बन्धन करता ।

(३)

इसके जल में आग भरी है,
शीतलता ऊपर दिखलाती है ।
स्नान करे जो सदा रहेगा वह आजीवन जलता ।

[५]

स्मृति

(१)

बज रहा हो झनझनाता एक तार,
दुःखमय स्वर में विजन में जिस तरह
शून्यमय आकाश को निस्तब्ध कर,
रागिनी करुणामयी देता बहा ॥

(२)

क्यों न वह बजता हो धीमी तान में,
शान्ति को भर दर्द से देगा रुला ।
घोर व्याकुलता ' बिरह की तीव्रता '
क्यों न दे जड़ वस्तुओं को भी जगा ॥

(३)

जान सकता कौन है गम्भीरता,
उस हृदय की जो भरा है दुःख में ।
बोल सकता है नहीं पर विवश हो,
सनसनाती वायु सा झंकारता ॥

(४)

उस तरह हे कवि ? ! तुम्हारा दुःख भी,
प्रेममय विरहाश्रु वाणी से भरा ।
उठ रहा एकान्त से इस चित्त में,
जो ढका था पूर्व विस्मृत मेघ से ॥

(५)

है जगाता वेग से उस याद को,
जो पड़ी सोई हुई थी मोह में ।
खींच कर फिर उस पुराने चित्र को,
दुःख मय करता जगत् आनन्द मय ॥

(६)

दुःख में आनन्द क्या क्या हैं भरे,
कोई समझेगा इसे प्रेमी हृदय ।
मैं तुम्हारे दुःखमय इस राग में,
क्या कहूँ आनन्द में हूँ झूमता ॥

(७)

जो न स्मृति होती हमारे चित्त में—
स्थिर बिताये जीवनों की पुण्यतम ।
हम भटकते घोरतम अन्धेर में—
हा ! न होता सूर्य का जिसमें उदय ॥

(८)

यह कली दिल की न फिर खिलती कभी,
सुरभि से व्याकुल न फिर बहता समीर ।
यह जगत् बस घोर निद्रा में शयन—
एक करता फिर न होता जागना ॥

[६]

निद्रा में चैतन्य

(१)

जब तेरी आनन्द-सुधा में, मैं अपने को भूल गया,
दिव्य तेज से नयन जग उठे, प्रिय का दर्शन लाभ हुआ।
हृदय कमल खिल उठा गगन में, झनक उठे वीणा के तार।
बरस पड़ी सावन भादों की, झड़ियों सी मीठी रसधार॥

(२)

उस अनन्त की सुखमय निद्रा, में मुझको चैतन्य हुआ।
लीन हुआ मैं चूर हुआ, सब अन्धकार विच्छिन्न हुआ।
इस माया के इन्द्रजाल से, जग—माया के जाल कटे,
रहा एक आनन्द, दुःख के, पर्दे सारे दूर हटे॥

[७]

दुःख का साथी

(१)

दुःख निशा आई जब सारे, जग ने मुझको छोड़ दिया,
मेरे साथी, सङ्गी, सब ने, अपना मुँह था मोड़ लिया।
आँसू गर्म आह से था, इस दिल पर पर्दा पड़ा हुआ,
ऐसे समय कोई झट आकर, मेरे द्वारे खड़ा हुआ॥

(२)

जा जा देख लिया जग सारा, है केवल सुख का साथी,
क्या हँसने आया है मुझ पर, कौन यहाँ दुःख का नाती?

नमक न डाल और बस मुझ पर, इतना ही था कह पाया।
पर्दा उठा और वह मेरे; घर के अन्दर घुस आया ॥

(३)

आते ही निज बाहु-पाश से, उसने मुझको बाँध दिया,
मैंने कहा—कौन तू, तो यह, अश्रु भरा मुख चूम लिया।
आश्वासन देकर फिर उसने, कहा न अब तुम करो विषाद,
मैं हूँ जिसे भुला कर सुख में, दुख में सब करते हैं याद ॥

चयनिका

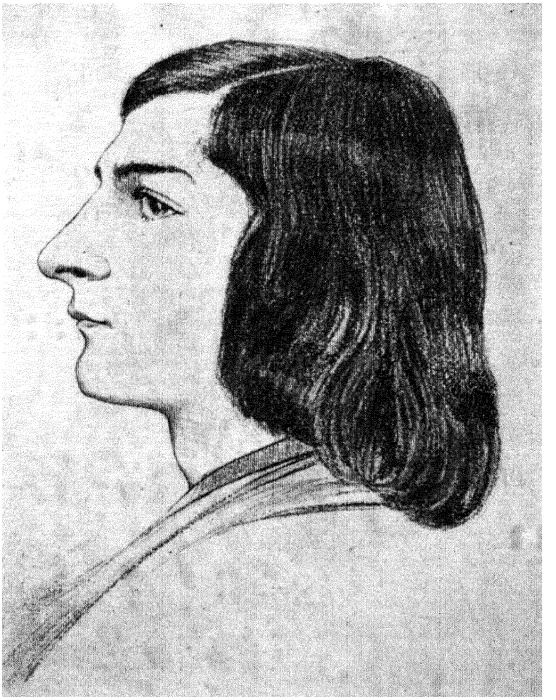

पं० सुमित्रानन्दन पन्त

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

जन्म काल—सन्-१९०१ ई० १४ वीं मई ।

जन्म-भूमि—देवी भवन, अलमोड़ा ।

निवास-स्थान -३, म्योररोड (प्रयाग ।)

जीवन यान

अहे विश्व ! ऐ विश्व-व्यापित-मन !
किधर बह रहा है यह जीवन ?
यह लघु, पोत, तृण, रज-कण,
अस्थिर———भीरु——वितान,
किधर ?-किस ओर ?-अछोर,-अजान,
डोलता है यह दुर्बल-यान ?
मूक—बुदबुदों से लहरों में
मेरे व्याकुल—गान
फूट पड़ते निःश्वास—समान,
किसे है हा ! पर उनका ध्यान !
कहाँ हुये हो मेरे ध्रुव !
हे पथ-दर्शक ! द्युतिमान !
दृगों से बरसा यह अभिधान
देव ! कब दोगे दर्शन-दान ?

निर्झरी

यह कैसा जीवन का गान
अलि ! कोमल कल् मलट्लमल् ?
अरी शैल—बाले नादान !
यह अविरल कल् कल् छल् छल् ?
झर् मर् कर पत्रों के पास,
रण मण रोडों पर सामास,
हँस हँस सिकता से परिहास

करती हो तुम अलि ! झल मल ।
स्वर्ण—बेलि-सी खिली विहान,
निशि में तारों की-सी यान ;
रजत-तार-सी शुचि सचिमान
फिरती हो रङ्गिणि ! रल् मल् ।
दिखा भृङ्गिमय भृकुटि-विलास,
उपलों पर बहु-रङ्गी-लास
फैलाती हो फेनिल—हास,
फूलों के कूलों पर चाल ।
अलि ! यह क्या केवल दिखलाव,
मूक-व्यथा का मुखर-भुलाव ?
अथवा जीवन का बहलाव ?
सजल आँसुओं की अञ्जल
वही कल्पना है दिन रात,
बचपन औ. यौवन की बात,
सुख की वा दुख की ? अज्ञात !
उर अधरों पर है निर्मल ।
सरल-सलिल की-सी-कल-तान,
निखिल-विश्व से निपट अजान,
विपिन-रहस्यों की आख्यान !
गूढ़-बात है कुछ कल् मल् ?

प्रभात वायु

अरी भोर की मधुर-झकोर !
आ, मेरी आँखों को खोल ।

ओ जीवन की नवल-हिलोर !
आ, मेरे पलकों पर डोल !
स्वप्न-नीड़ में चौंक अजान
विटप-बालिका पुलकित प्राण,
स्वर्ण-रश्मि का जो मृदु-गान
भाती है, ले आ वे बोल;
ओ कोल-कलरव की तान !
इन अलसित-आँखों को खोल।
अनिल-उदधि में उमड़ प्रभात
लघु-लहरों-से तरु के पात,
कहते हैं जो शीतल-बात
उन्हें मुँद-श्रवणों में घोल।
ओ गीले-परिमल की गात
इन अविचल-पलकों पर डोल।
खोल नवल-जीवन के द्वार
प्रथम-सुरभि का जो उद्गार
देती है कलिका सुकुमार,
समझा उसके भाव, विलोल !
ओ सुमनों की सांस उबार,
इन अस्फुट-आँखों को खोल
हिम-जल का वह तारक-लास
शशि की शिशिरों का उल्लास,
चुरा मोतियों का वह हास
विकसा मेरे मलिन-कपोल;
मुरझी-कलियों का आश्वास !
इन मुकुलित-पलकों पर डोल।

छोड़ केशरी-शयनागार
हरता मधुर-दिवस का भार,
मधुकर की मादक-गुञ्जार
ला, मृदु-ध्वनियों की हिल्लोल !
ओ नभ-वीणा की झङ्कार।
इन निमिषित-नयनों को खोल।
आः, अजानता की चिर-रात !
यह उज्ज्वल-आशा अज्ञात !
इन असार-स्वप्नों की प्रात
ला, द्रुत ला, ओ दिव्य-हिंडोल !
अरी विश्व-उर-कम्पन बात !
इन पीड़ित-पलकों पर डोल।
नव-जीवन, नव-ज्योति-उदार
नव-शोभा, सङ्गीत, अपार,
वह सोने का शुचि-संसार
दिखला, वह संसार अमोल;
नव सुख, न बल की सञ्चार !
इन उत्सुक आँखों को खोल !
ओ असीम-नभ की उपहार !
इन कृपालु-पलकों पर डोल।

मेरा बल

कर पुटि में पुष्पाञ्जलि धर,
भक्ति-नीर से मानस भर,
तेरा गौरव भाती हूँ मैं

अवनत-वदना तो जब मात,
तुझको नित्य बुलाती हूँ मैं
सजल-लोचना हो जब प्रात !
धारण कर तेरा ध्रुव-ध्यान,
हम-सन्मुख ला मूर्ति-महान,
नयन मूँद लेती हूँ जब मैं
तुझको निज मन में अनुमान,
गद्गद हो गो देती हूँ मैं
जब अति भावाकुल हो प्राण !
जब मेरा चिर-सञ्चित-प्यार
उमड़ उदधि-सा अतल, अपार,
अपने नीरव-गूढ़ गर्भ में
मुझे डुबाता है गम्भीर,
द्रोह, मदन, मद का मल मेरा
धो देता है जब दृग-नीर।
तब मेरे सुख का अनुमान
क्या तू कर सकती है प्राण !
कह, क्या तू भी गा सकती है
इतने सुख से अपने गीत ?
कभी देख सकती है तू भी
क्या अपनी यह मूर्ति-पुनीत ?
मा ! तेरा अति रम्य-स्वरूप,
तेरे गुण-गण अतुल, अनूप,
नयन-नीरजों में तेरे भी
बँधते हैं, बन चोर-अजान ?
क्या तुझसे भी लेते हैं ये

कभी स्नेह-मधु-सिञ्चित-दान ?
सर्व-शक्तिमत्ता तेरी
यह क्या नहीं जननि ! मेरी ?
यह मुझको ही तो तापों से
रक्षित रखती है दिन-रात,
तुझे तभी तो मैं अपने से
दुर्बल बतलाती हूँ मात !

व्यर्थ-चिन्ता

(ऊषा का अन्तिम गान ।)

मिला मिला कर सुन्दर-स्वर
अपनी वीणा में मृदुतर,
"इन थोड़े,-से गीतों को जब
गा लूँगी मैं तेरे मात !"
—यही सोचती थी मैं नित्य—
"ऊषा में स्नेहाञ्जलि भर
मोह, मदन, मदकी बलि कर,
"तब क्या गा कर खेलूँगी मैं
निज जीवन की प्रमुदित-मात,
मन्द मन्द कर मञ्जुल-नृत्य ?"
तू मुझको अति-चिन्तित जान
समझ निपट-नादान, अजान,
बोली थी " मैं बतलाऊँगी
तुझको अपने गीत पुनीत,
नूपुर-ध्वनि कर श्रुति-सुखकर ।

पर, अब करती हूँ अनुमान,
मुझमें कितना था अज्ञान !
जीवन भर भी या ! मैं पूरे
गा न सकूँगी तेरे गीत,
अपनी वीणा में स्वर भर।

स्याही का बूँद

गीत लिखती थी मैं उनके,
अचानक, यह स्याही का बूँद,
लेखनी से गिर कर, सुकुमार,
गोल-तारा-सा नभ से कूद,
सोधने को क्या स्वर का तार,
सजनि ! यह आया है मेरे पास ?
अर्ध-निद्रित सा, विस्मृत-सा,
न जागृत-सा, न विमूर्छित-सा,
अर्ध-जीवित-सा औ-मृत-सा,
न हर्षित-सा, न विमर्षित-सा,
गिरा का है क्या यह परिहास ?
एकटक, पागल सा यह आज,
अपरिचित-सा-वाचक-सा कौन
यहाँ आया छिप छिप निर्व्याज,
मुग्ध-सा, चिन्तित-सा, जड़-मौन,
सजनि ! यह कौतुक है या रास !
योग का-सा यह नीरव तार,
ब्रह्म-माया का-सा संसार,

सिन्धु-सा घट में,—यह उपहार
कलपना ने क्या दिया अपार,
कली में छिपा वसन्त-विकास !

छाया—काल

स्वस्ति, जीवन के छाया-काल !
सुप्त-स्वप्नों के सजग-सकाल !
मूक-मानस के मुखर-मराल !
स्वस्ति, मेरे कवि-बाल !
तुम्हारा मानस था सोच्छ्वास,
अलक-पलकों में स्वप्न-विलास,
आँसुओं की आँखो में प्यास,
गिरा में था मधुमास !
बदलता बादल-सा नित वेश
तुम्हारा जग था छाया शेष,
निशा, अपलक-नक्षत्रों-मेष,
दिवस, छवि का परिवेश ?
दिव्य हो भोला-बालापन,
नव्य-जीवन, पर, परिवर्तन !
स्वस्ति, मेरे अनङ्ग-नूतन !
पुरातन मदन-दहन !

वञ्चना

विस्तृत मरुथल के उस पार
जहाँ स्वप्न सजते शृंगार—

छवि के वन में एक नाल में
दो कलिकाएँ फूली हैं।
कलित-कल्पना की डाली में
जो अतीत से झूली हैं;
जो मधु-धूलि-सुगन्ध-रहित हैं,
दिव्य-रूप करतीं विस्तार,
जहाँ स्वर्ग की आशा-अलिनी
गाती है, कर स्वप्न-विहार।
जब यह मरु रवि के आतप में
तप्त छोड़ता है निःश्वास,
उस छवि के वन में ऊषा का
रहता है तब भी मृदु-हास,
वह सोने की आशा-अलिनी
करती है जब मृदु-गुञ्जार,
तब सुख हँसता, औ, दुख गाता,
विश्व दीखता एकाकार।
उस छवि के मञ्जुल-उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग में दुख पाता है,
बालू का प्रतिकण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च, अपार,
भीरु-पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण-सरित की धार।

इन्द्र-धनुष

(उपक्रम)

(१)

प्रिये, प्राणों की प्राण !
न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय-विधान !
नवल-कलिकाओं की-सी बान,
बाल-रति सी असमान,
न जाने, कौन, कहाँ अनजान,
प्रिय, प्राणों की प्राण !
जननि-अञ्चल में भूल सकाल
मृदुल-उर-कम्पन-सी वपुमान ;
स्नेह-सुख में बढ़ सखि ! चिरकाल
दीप की शिखा समान
कौन सा आलय, नगर विशाल
कर रही तुम दीपित, द्युतिप्रान ?
शलभ-चञ्चल मेरे मन-प्राण,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

\+ \+ \+

नवल-मधु-ऋतु-निकुञ्ज में प्रात
प्रथम-कलिका-सी अस्फुट-गात ;
नील नभ-अन्तः पुर में तन्वि !
दूज की कला सदृश नव जात ;
मधुरता-मृदुता-सी तुम प्राण !

न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात !
कल्पना हो जाने परिमाण !
प्रिये प्राणों की प्राण !

हृदय के पलकों में गति-हीन,
स्वप्न-संसृति-सी सुषमाकार ;
बाल-भावुकता बीच नवीन
परी-सी धरती रूप अपार ;
भूलती उर में आज किशोरि !
तुम्हारी मधुर-मूर्ति छविमान,
लाज में लिपटी उषा समान,
प्रिये प्राणों की प्राण !

मुकुल-मधुपों का मृदु-मधुमास,
स्वर्ण, मुख, श्री, सौरभ के तार ;
मनों भावों का विपुल-विलास,
विश्व-सुषमा हीं का संसार ;
दृगों में छा जाता सोल्लास
व्योम-बाला का शारदाकाश ;
तुम्हारा आता जब प्रिय-ध्यान,
प्रिये प्राणों की प्राण !

अरुण-अधरों की पल्लव -प्रान,
मोतियों-सा हिलता हिम-हास ;
इन्द्र धनुषी-पट से ढँक जात
बाल-विद्युत का पावस-लास ;
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले-अङ्गों का मधुमास ;
तुम्हारी छवि का कर अनुमान,

प्रिये प्रणों की प्राण !
खेल सस्मित-सखियों के साथ
सरल-शैशव-सी तुम साकार,
लोल-कोमल-लहरों में लीन
लहर हो-सी लघुभार ;
सहज करती होगी सुकुमारि !
मनो लहरों से बाल-विहार ;
सरसि में हँसिनि-सी कल तान,
प्रिये प्राणों की प्राण !
खोल सौरभ का मृदु कच-जाल
सूँघता होगा अनिल समोद ;
सीखते होंगे उड़ खग-बाल
तुम्हीं से कलरव, केलि, विनोद ;
चूम लघु-पद-चञ्चलता प्राण !
फूटते होंगे नव जल-श्रोत ;
मुकुल बनती होगी मुसकान,
प्रिये प्राणों की प्राण !
मृदु मिल-सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान ;
मुग्ध-कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा नव गान ;
तुम्हारे शैशव में, सोभार
पा रहा होगा यौवन प्राण ;
स्वप्न-सा, विस्मय-सा अम्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !
अरे, वह प्रथम-मिलन अज्ञात !

विकम्पित मृदु-उर पुलकित, गात
मशाङ्कित, ज्योत्स्ना-सी चुप चाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृग-पात;
पास जब आ न सकोगी प्राण!
मधुरता में सी भरी अजान,
लाज की छुई मुई-सी म्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!
सुमुखि! वह मधु-क्षण! वह मधु-वार!
धरोगी कर में कर सुकुमार!
निखिल जब नर—नारी संसार
मिलेगा नव-सुख से नव-वार;
अधर-उर से उर-अधर समान,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान,
प्रिये प्राणों की प्राण!
अरे, चिर-गूढ़ प्रणय-आख्यान!
जब कि रुक जावेगा अनजान
साँस-सा नभ-उर में पवमान;
समयनिश्चल, दिशि, पलकसमान,
अवनि पर झुक आवेगा प्राण!
व्योम-चिर, विस्मृति से म्रियमाण।
नील-सरसिज-सा हो हो म्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

निर्झर-गान

शुभ्र निर्झर के झरझर पात !
कहाँ पाया निर्भय गान !
शृङ्ग के निर्मल नाद !
स्वरों का यह सन्धान ?
विजनता का सा विशद-विषाद,
समय का सा अजस्र-आह्वान,
गगन का सा आह्लाद ;
मौन गिरिवर के मुखरित ज्ञान !
भारती का-सा अक्षय दान ?
सितारों के हैं गीत महान,
मोतियों के अमूल्य, अम्लान ;
फेन के अस्फुट, अचिर, वितान,
ओस के सरल, चटुल, नादान ;
आँसुओं के अविरल, अनजान,
बालुका के गतिवान ;
कठिन उर के कोमल उद्घात !
अमर है यह गान्धर्वि-विधान ।
प्रणति में है निर्वाण,
पतन में अभ्युत्थान ;
जलद-ज्योत्स्ना के गात ;
अटल हो यदि चरणों में ध्यान ;
शिलोच्चय के गौरव-सङ्घात !
विश्व है कर्म प्रधान ।

ग्रन्थि

एक बार—

एक बार बिंधे-हृदय को बाँध कर,
कल्पने ! आओ, सजनि ! उस प्रेम की
सजल-सुधि में मग्न हो जावें पुनः
खोज ने खोए हुए निज रत्न को।
तरुणता की उन तरङ्गों में तरल,
भूल लेवें चपल-मीनों-सा पुनः,
फेन के मोती पिरो सुख-सूत में
बुद बुदों-सा गीत गा लेवें मधुर।
एक पल, जग-सिन्धु का गम्भीर-गीत
आज पुलकित-कीत्रियों में डूब जा,
हम प्रणय की सदय-मुख-छबि देख लें
लोल-लहरों पर कलापित से लिखी।
पवन के उभरे गगन मय-पङ्ख-से
परम-सुख के उस विशाल-विलास में
शरद्-घन-सा लीन हो, गिर पलक-सा,
भूल जावें, अल्प, विरही-विश्व को ! १६
वह मधुर मधु-मास था, जब गन्ध से
मुग्ध हो कर झूमते थे मधुप दल,
रसिक-पिक से सरस तरुण-रसाल थे,
अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस-से।
जान कर ऋतुराज का नव-आगमन,
अखिल कोमल-कामनाएँ अवनि की
खिल उठी थीं सरल-सुमनों में कई,

सफल होने को अवनि के ईश से।
निज रुचिरतर कनक-किरणों को तपन
चरम-गिरि को खींचता था कृपण-सा,
अरुण-आभा में रँगा था यह पतन
रज-कणों सी वासनाओं से विपुल।
अचिरता से सहज आभूषित हुई
कीर्ति कितनी हैं नहीं छिपती अहा!
सान्ध्य-महिमा-सी, प्रभा-अवसान से,
वाम-वर्धित-अल्पता में, तिमिर में।
तरणि के हो सङ्ग तरल तरङ्ग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में,
सान्ध्य-निःस्वन-से गहन जल-गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया।
बुद् बुदे जिन चपल-लहरों में प्रथम
गा रहे थे राग जीवन का अचिर,
अल्प पल, उनके प्रबल-उत्थान में
हृदय की लहरें हमारी सो गईं।
जब विमूर्छित-नींद से मैं था जगा
कौन जाने, किस तरह?—पीयूष-सा
एक कोमल सम-व्यथित निःश्वास था
पुनर्जीवन-सा मुझे तब दे रहा।
मधुप-बाला का मधुर मधु-मुग्ध-राग
पद्म-दल में सम्पुटित था हो चुका,
"काम्य" उपवन में प्रथम जब था खिला
प्रणय-पद्म, कुमुद-कली के साथ ही।
शीश रख मेरा सुकोमल-जांघ पर

शशि-कला-सी एक बाला व्यग्र हो,
देखती थी म्लान-मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित-दृष्टि से
वह उपाय-विहीन, पर, आशामयी
स्नेहदृष्टि, अनन्य, कोमल-हृदय की
करुणा, मङ्गल-कामना से थी भरी,
हाय ! केवल मात्र साधन दीन की। ५६
नित्य ही मानव तरङ्गों में विपुल
मग्न होते हैं कई; पर, इस तरह,
अमृत की जीवित-लहर के बाँह में,
जगत में, कितने अभी भूले भला ?
चपल-जीवन की तरी भी, विश्व में,
डूबती हीं है, भँवर-सी घूम कर,
मग्न हो कर किन्तु सब को दूसरी
नाव मिलती है नहीं फिर सहज ही। ६४
इन्दु पर, उस इन्दु-मुख पर साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से लोहित हुए थे; पूर्व को
पूर्व था, पर, वह द्वितीय अपूर्व था ! ६८
बाल-रजनी-सी अलक थी झूमती
भ्रमित हो, शशि के, बदन के बीच में;
अचल, रेखाङ्कित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुकवि के काव्य में। ७२
एक पल, मेरे, प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने उस विकम्पित-पुलक से

दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था। ७६
लाज की मादक-सुरा-सी अरुणिमा
फैल गालों में, नवीन-गुलाब-से,
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की
अधखुले, सस्मित-गढ़ों से, सीप-से!
इन गढ़ों मे—रूप के आवर्त से—
घूम फिर कर, नाव-से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण-सौन्दर्य के! ८४
जब प्रणय का प्रथम-परिचय मूकता
दे चुकी थी हृदय को, तब यत्न से
बैठ कर मैंने निकट ही, शान्त हो,
विनत-वाणी में प्रिया से यों कहा— ८८
सलिल-शोभे! जो पतित, आहत-भ्रमर
सदय हो तुमने लगाया हृदय से,
एक तरल-तरङ्ग से उसको बचा
दूसरी में क्यों डुबाती हो पुनः!
प्रेम-कण्टक से, अचानक, विद्ध हो,
जो सुमन तरु से विलग है हो चुका,
निज दया से द्रवित उरमें स्थान दे
क्या न सरस-विकास दोगी तुम उसे!
मलिन-उर छू कर तिमिर का अरुण-कर
कनक-आभा में खिलाते हैं कमल,
प्रिय बिना तम-शेष मेरे हृदय की
प्रणय-कलिका की तुम्हीं प्रिय-कान्ति हो।
यह विलम्ब! कठोर-हृदये! मात को

बाधुका भी क्या बचाती है नहीं!
निडुर का मुझको भरोसा है बड़ा
गिरि-गुहाएं ही अभय-आधार हैं।
स्थान-तम में हो कलाधर की कला
कौमुदी बन कीर्ति पाती है धवल,
दीनता के ही विकम्पित-पात्र में
दान बढ़ कर छलकता है, प्रीति से।
प्रिय! अनाश्रिति की कठिन-बाहें नहीं
शिथिल पड़ती हैं प्रलोभन भार से,
अल्पता की सङ्कुचित-आखें सदा
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से।
दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज
सरल- उपकृति का सजल-मानस प्रिये!
क्षीण-करुणा लोक का भी लोक को
है वृहत् प्रतिविम्ब दिखलाता सदा।
शरद के निर्मल-तिमिर की ओट में
नव-मिलन के पलक-दल सा झूमता,
कौन मादक-कर मुझे है छू रहा
प्रिय! तुम्हारी मूकता भी आड़ से!
यह अनोखी-रीति है क्या प्रेम की
जो अपाङ्गों से अधिक है देखता!
दूर हो कर और बढ़ता है, तथा
वारि पी कर पूछता है घर सदा? १२४
इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में
अनिल की ध्वनि में, सलिल की बीचि में,
चकित-उत्सुकता विचरती थी, सरल

सुमन की स्मिति में, लता, के अधर में । १२८
निज पलक, मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से सुनमता ने उठा,
एक पल, मद की लहर-सी दृष्टि-से
तरल कर दी दृष्टि मेरी, दीप-सी । १३२
"नाथ" कह अतिशय मधुरता से दबे
सरस-स्वर में, सुमुखि थी सकुचा गई;
उस अनूठे-सूत्र में, पर, हृदय के
भाव सारे भर दिए, ताबीज़-से । १३६
वह स्पृहा, सङ्कोच का सुन्दर-समर
अधर कम्पित कर, कपोलों पर युगल
एक दुर्बल-रक्तता में था बहा,
हाय ! विजयी-प्रेम की निःशक्तता ! १४०
सुभग लगता है गुलाब सहज सदा,
क्या उषामय का पुनः कहना भला ;
लालिमा से ही नहीं क्या टपकती
सेब की अति-सरसता, सुकुमारता ? १४४
पद-नखों को गिन, समय के भोर को
जो घटाती थी भुला कर, अवनि-तल
खुरच कर, वह जड़-पलों की धृष्टता
थी छिपाना चाहती मानों वहाँ । १४६
प्रथम केवल मोतियों को हंस जो
तरसता था, अब उसे तर सलिल में
कमलिनी के साथ क्रीड़ा की सुखद
लालसा पल पल विकल थी कर रही । १५२
प्रेमियों का कौश-सा कोमल-हृदय

कोटि-कर-सौन्दर्य के कृश-हाथ में
सहज ही दब कर, नवल-आसक्ति से
फूल उठता है पुनः उन्मत्त हो। १५६
रसिक वाचक! कामनाओं के चपल,
समुत्सुक व्याकुल-पगों से, प्रेम की
कृपण-वीथी में विचर कर, कुशल से
कौन लौटा है हृदय को साथ ला। १६०

जनार्दनप्रसाद झा, "द्विज"

जन्म-काल—२४ जनवरी १९०४ ईसवी

जन्म-स्थान—रामपुर डोह

पो०—शाहकुण्ड

(भागलपुर)

अतिथि से

(१)

क्षण भर के सोये वियोग को—
छू कर दुख दूना न करो;
इस आतुरता से रोता—
जीवन मेरा सूना न करो !

(२)

रुको, और पल भर रुक जाओ,
अन्तिम बार सदय हो लो,
मेरे हृदय रक्त से अपनी—
स्मृति का धुँधलापन धो लो;

(३)

भूल नहीं जाओ जिससे इस—
घर का तुम आना-जाना;
मिलो जहाँ भी, पड़े न परिचय—
में मुझको कुछ बतलाना !

(४)

विकल रुदन मेरे अधीर—
यौवन का शान्त किये जाओ;
चूम प्रकम्पित इन अधरों को,
मधु का दान दिए जाओ !

(५)

मधुर मिलन-आशा-मदिरा से,
मतवाली आँखें कर दो;

हृदय-विपञ्ची के सोए तारों में,
आकुल स्वर भर दो !

(६)

वे बज उठें, लगो तुम गानें,
और विसुध मैं हो जाऊँ !
अतिथि ! "इधर" जाओ तुमजाकर—
मैं फिर तुम्हें "उधर" पाऊँ !!

पराजित दान

सजग न रह पाया अपनी ही,
रखवारी में चूक हुई,
प्यारे भरे भोलेपन की,
माया से वाणी मूक हुई !

× × ×

सुख विरहित जीवन की सूनी,
अभिलाषा दो टूक हुई;
कूक हुई कम्पित करुणा की,
हिय में सौ सौ टूक हुई !

× + ×

"उसे" देखते ही मैंने ,
कुटिया अपनी खाली करदी !
अपने ही हाथों बटोर—
वैभव उसको थाली भर दी !

खोज

(१)

कम्पित घड़ियों के कितने—
युग बीते "अलख" जगाते !
भूल गया अपना घर उसके—
घर में आते जाते !!

(२)

पर न मिला है अबतक मुझको—
खुला कभी पट हिय का !
निरख न पाया सजल नयन से—
मुख अपने पिय का !!

(३)

बहुत दूर से हूँ उसको मैं—
खड़ा देखता मग में !
निकट पहुँचते ही चट लग—
जाते पर उसके पग में !!

(४)

अपने आँगन में वह रहता—
सतत लगाये मेला !
पर मैं वहाँ पहुँच कर भी—
ढरकाता अश्रु अकेला !!

(५)

मलिन कालिमा भी न किसीकी—
होगी जग में इतनी !

(७५)

मुझे आज लगती मैली—
छाया अपनी जितनी !!

(६)

जिसे देखते ही डर से वह—
शशि मुख है छिप जाता !!
मैं प्रकाश की भीख माँगते—
अन्धकार हूँ पाता !!

(७)

जिस हुलास-धन के टुकड़ों से—
भरा हृदय अञ्चल है !!
प्रगति लालसा भरी आज—
उसकी कितनी चञ्चल है !!

(८)

सुख-सुहाग की सेज सजाना—
सहज न है जीवन में !
दाह, चाह बन कर चुपके से—
जब आ बसती मन में !!

(९)

जहाँ कहीं भी झलक देख—
उस रूप-किरण की पाता !
व्यर्थ पहुँच मैं वहीं तुरत—
जाता पग चपल बढ़ाता !!

(१०)

सतत देखता जगत मुझे—
सूनी बाहें फैलाते !

जीवन सन्ध्या अस्त हो रही,
उसको पाते पाते !!

भग्न उसास

किए गीली पलकों में बन्द,
लजीली आँखों का अनुरोध;
प्रणय के चरणों पर चुपचाप,
चढ़ा मैं देता शीश अबोध !
तुम्हारी करुणा का विश्वास,
चूमता जब अधीर अनुराग !
भभक उठती तब अपने आप,
जल उर में आशा की आग !
पलक-कंपन की खा मृदु चोट,
सिहर उठते प्राणों के तार !
तरल पीड़ा के गीले गीत !
विकल बन उमड़ाते मधु-धार !
उसी में लघु जीवन का भार,
मरे तृण-सा तिरता निरुपाय !
'प्रगति' के भीतर 'गति' का 'अन्त'
खोजता बन पागल हुँ हाय !
निराशा की वेदी पर फूल,
चढ़ाना ही है जिसका काम;
तुम्हारी गोदी से गिर दूर,
कहाँ वह पावेगा "विश्राम" ?
जान यह, श्रमफल होकर भी न,
पराभव मैं करता स्वीकार,

वेदना के आँगन में लोट,
पालता अपना पागल प्यार !
तड़पते भावों की लघु भेंट,
क्यों न कर दोगे अस्वीकार ?
मसलते क्या लगती है देर,
निठुर कर से कलियों का हार ?
तुम्हारी नीरवता है एक,
करुण कोलाहल का अधिवास !
मुझे "नाही" के बल से खींच,
बुला लेते तुम अपने पास !
विवशता की जीवित छवि देख,
खिसक हट जाता है चुपचाप;
विनय-करुणा के विमुख प्रवाह,
एक हो जाते अपने आप।
प्रणय की इस जगती में पहुँच,
प्राणधन ! तुमको अपना जान;
मचल, झुँझला, रो-रो, रह मौन,
किया करता तुमसे मैं मान !
अबल को रखने दोगे क्या न,
पास इतना सा भी अधिकार ?
निदारुण पीड़ाओं का और,
कहो फिर हो कैसे प्रतिकार !
उपेक्षित हो तुमसे इस भाँति,
कहाँ मैं जाऊँ किसके पास ?
मान का समझावेगा मर्म,
किसे यह मेरा "भग्न उसास" ?

रामचन्द्र शुक्ल "सरस"

जन्म-काल—१६ मार्च १६०४ ई०

जन्म-भूमि—मऊछीवों

जिला—बांदा

चयनिका

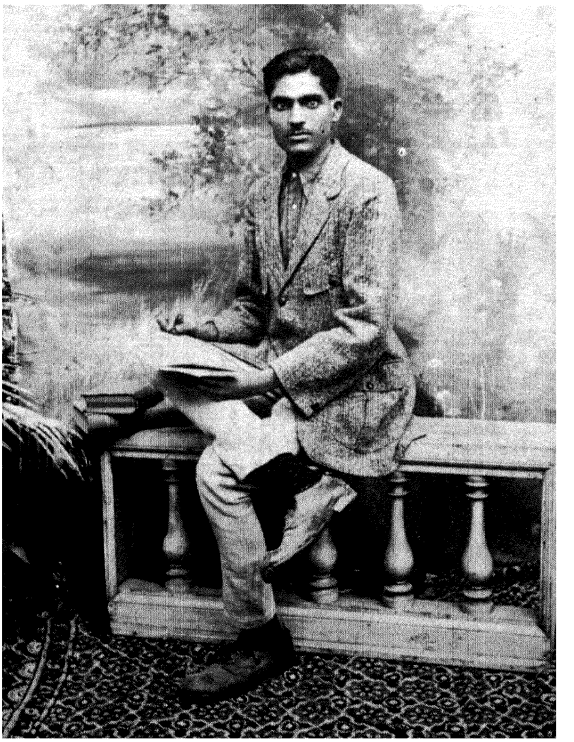

पं० रामचन्द्र शुक्ल " सरस "

कौन

निखिल नीरव था निर्जन प्रान्त,
शान्ति का बिखरा था साम्राज।
बिहरती थी उसमें सानन्द,
वन्य माला सज सुन्दर साज॥
लताओं के वह जाकर पास,
प्रेम के करती थी प्रस्ताव।
सुनाती थी कलियों को मञ्जु,
कभी जाकर निज मन के भाव॥
देख उनको होती थी मुग्ध,
सोचती थी मन में हो मौन।
मिले हैं इनको प्रेमी भृङ्ग,
मिलेगा मुझे न जाने कौन?

मौन-निमंत्रण

निपट नीरव, निर्जन, शुचि, शान्त,
रम्य है तरणि-तनूजा तीर,
अरुणिमा ऊषा की विस्तीर्ण,
विश्व में है ज्यों कञ्चन नीर,
चल रही शीतल, मञ्जुल, मंद,
सुनिर्मल, सुन्दर, सरस, समीर,
दूर कर देती है तत्काल श्रान्त
जन के तन-मन की पीर।
आ चला प्राची दिशि से चारु,
बाल-रवि का मोहन आभास,

प्रकृति देवी का अथवा रम्य
मधुर, मोहन, मृदुहास, विलास।
मुदित दिक्कन्याओं के मञ्जु
खिल उठे मधुर गुलाबी गाल,
चली, तो मलिना दीना किन्तु,
त्रिश्यामा श्यामा आँसू डाल।
नियम 'परिवर्तन का है नित्य;
हुये यह कह कर तारे व्यस्त,
पराभव, वैभव या सुख, दुःख,
चक्र से चले, उदय त्यों अस्त।
लताएँ ललिता लीला-लोल
लहलहीं लहर लचाती लंक,
समय सुषमामय मञ्जुल नव्य,
भली हो खिलीं कली निज अंक।
रूप-रस, रँग- कि-सुरभि-मद-झूम
विकसने लागे कंज के पुञ्ज,
आ गये मस्त रसिक अलि-पुञ्ज,
मुदित मन मोहन करते गुञ्ज।
कहा मैंने उनसे साश्चर्य्य,
"अहो अलि, सहृदय रसिक-प्रधान?
गया था तुम्हें लिवाने कौन,
किया था किसने तव आह्वान?"
कहा—"मोहन, मृदु, मुख-मुसकान
कली का मौन निमंत्रण प्रेम,

खींच लाया है मुझको आज
सुरभि, सौंदर्य, रूप, रस, नेम।"

साकार-प्रेम

(१)

प्यारे-जीवन के कितने ही—
दिन रो-रो कर खो डाले।
कुछ अमूल्य दिन, उन्हें-स्वप्न में,
लखने के हित सो डाले॥
बिलख-बिलख कर जिन्हें देखने,
को आँखें रोती रोती।
अहह! खो चुकी हैं अमूल्य-आते,
मानस के मञ्जुल-मोती।

(२)

मधुर-मिलन जिनका पाने को,
बहुत किये मैंने साधन।
प्रेम-नेम से मन-मन्दिर में,
किया जिन्हीं का आराधन॥
चरण-कमल की जिनके पावन,
बलि-वेदी पर हो बलिदान।
चाहा था जिसके मुसुकाते,
मुख के दर्शन का बलिदान॥

(३)

तर्पण कर नयानाश्रु-नीर से,
अर्पण कर तन-मन जीवन।
माँगा था वियोग रोगी ने,

अधर सुधा-रस सञ्जीवन ॥
प्रेमाकर्षण मंत्र, साध मैं,
सुरति-समाधि, लगी जपने।
लगी देखने नेह-नींद में,
मन चाहे "जागृत-सपने"॥

(४)

सम्मुख इष्ट-देव की मञ्जुल,
मूर्ति देख मैं फूल गई।
दौड़ी यों उमङ्ग की बिजली,
जिससे मैं सब भूल गई॥
प्रियतम चले गये जाने क्यों,
क्या अनुचित जाना, माना?
जाना हाय! न मैंने विस्मृति,
मैं उनका आना-जाना॥

(५)

तनिक सँभल कर देखा मैंने,
तो न कहीं उनको पाया।
शेष रही कल्पना के लिये,
मोहन-माया की छाया॥
रोई सोचा कि आये प्रियतम,
किया न मैंने कुछ सत्कार।
कहा किसी ने वह तेरा ही,
था शुचि-सुखद प्रेम साकार!!!

परिताप

दिखाते हो क्यों सुख के स्वप्न,
दुःख ही देना है यदि नाथ ?
हाय ! यदि कर देना था त्याग,
किस लिये तो पकड़ा था हाथ ?
उदित कर पावन-प्रेम-प्रकाश,
किया क्यों सत्वर उसका अस्त ?
सच कहो क्या है इसका मर्म,
रचा क्यों माया जाल समस्त ?
दिलाते हो क्यों उसकी याद,
न हो सकती है जिसकी प्राप्ति ?
कर दिया जिसको विलग निदान,
व्यर्थ है उसके चित में व्याप्ति ?
कसकती है दिल में अब आह !
वञ्चनामय वह प्रीति प्रतीति ?
नाचती है नयनों में किन्तु,
तुम्हारी अब भी मूर्ति पुनीति ?
न मिलते मुझ से यदि प्रत्यक्ष,
न यदि तुमको कुछ मेरी चाह ?
स्वप्न में आ तो अन्तर्ध्यान,
दुःखद छल यों क्यों करते आह ?
मदीय-स्मृति में बारम्बार,
अहो ! आते हो तुम किस अर्थ ?
विलगता कर ली जब सब भाँति,
आह ! निर्मोही तब यह व्यर्थ ?

निमंत्रण

(१)

तेरी चरण-कमल-वेदी पर वार वलि होने को;
युग तन लोचन दृष्टि में डूब डूब कर धोने को।
मंद मधुर मुसकान सुधारस पीकर तृषा बुझाने को,
अविश्वास सङ्कोच जाल में उलझा मन सुलझाने को।

(२)

स्नेह-सलिल-सागर उमड़ा कर नीरस हृदय रिझाने को,
रुचिर राग की रचना में फिर रोकर तुम्हें रिझाने को।
निर्मोही नीरस-मानस में करुणा-रस सरसाने को!
इस उसांस-संताप-ताप से कठिन हृदय पिघलाने को!

(३)

चरण-कमल पर चंचरीक-चित चंचल चारु चढ़ाने को,
मोहन-गुण गण गेह गान की तान तरंग बढ़ाने को।
तव रसना माधुरी राशि में श्रवण युगुल नहलाने को,
या इस मूक मूर्ति माया की लीला में बहलाने को।

(४)

रम्य सुरूप रंग रचना में मोहित हो रम जाने को,
या इस भोलेपन पर प्यारे-विना मोल बिकजाने को।
"मौन-मन्त्र" की कठिन प्रतिज्ञा प्रभुका आज छुड़ाने को,
चलिये मन-मन्दिर में मेरे, आया आज बुलाने को।

दीपावली सन्देश

प्रेम-प्रदीप निरस अब हो कर,
सत्वर बुझने वाला है !
सूख चुका है, स्नेह, सखी ! सब
पड़ा निठुर से पाला है !!

(२)

निपट-निराशा-निशि अँधियारी,
मन-मन्दिर में छाई है !
आह-उसासों की आँधी भी,
बाधाएँ ले आई है !!

(३)

आती है अब दिव्य-दिवारी,
कह देना उनसे सन्देश !
अब भी बहुत न बिगड़ा है यदि,
कर दें कुछ करुणा लव लेश !!

(४)

आकर अपने प्रेम-दीप में,
करदें फिर सनेह-सञ्चार !
आशा की आरम्भ अब भी कुछ;
करती है प्रकाश प्रस्तार !!

(५)

निज कर से बस विरस वासना,
की बत्ती का कुछ उत्थान !

इस अवसर पर करके रख लें,
लगी लालसा-लव का मान !!

(६)

प्रेम-प्रदीप न जिससे उनका,
जुगुनू-सा जल कर बुझजाय !
यह उनका मन-मन्दिर सूना,
हो न अँधेरा जाये हाय !!

(७)

दीपक जला रहे सब सजनी
रजनी में धर धर कर चाह !
किन्तु, बुझाते हैं निज-दीपक,
वह क्यों होकर बे-परवाह ।

चयनिका

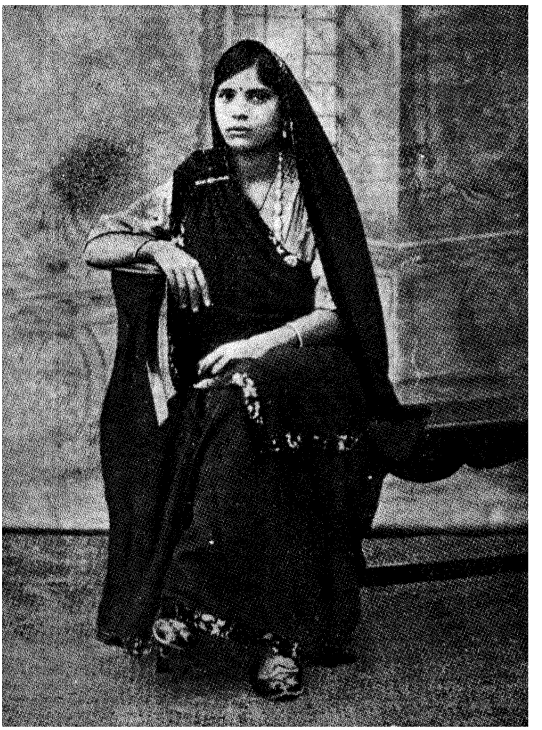

श्रीमहादेवी वर्मा

श्रीमहादेवी वर्मा

प्रयाग

विस्मृति

(१)

जहाँ हैं निद्रा भग्न बसन्त,
तुम्ही हो वह सूखा उद्यान।
तुम्ही हो नीरवता का राज्य,
जहाँ खोया प्राणों के भाल!

(२)

निराली सी आँसू की बूँद,
जहाँ डूबा भावों का हार!
सुरा का हो मतवाला घूँट,
जहाँ भूला है पहिला प्यार!

(३)

जहाँ वन्दी मुर्झाया फूल,
कली की हो ऐसी मुस्कान।
ओस का हो छोटा आकार,
छिपाया है जिसने तूफान!

(४)

जहाँ रोता है मौन अतीत,
सखी तुम हो ऐसी झंकार।
जहाँ बनती आलोक समाधि,
तुम्हीं हो ऐसा अन्धाकार!

(५)

जहाँ मानस के रत्न विलीन,
तुम्हीं हो ऐसा पारावार।
अपरिचित हो जाता है मीत,
तुम्हीं हो ऐसा अञ्जनसार!

(६)

मिटा देता खींची तस्वीर,
तुम्हारा यह सोने सा रङ्ग।
डुबा देती बीता संसार,
तुम्हारा यह निस्तब्ध तरङ्ग।

(७)

भस्म जिसमें हो जाता काल,
तुम्ही वह प्राणों का सन्यास।
लेखनी हो ऐसी विपरीत,
मिटा जो जाती है इतिहास!

(८)

स्मृतियों का देकर बलिदान,
तुम्हें पाया है मैंने अन्त।
लुटा कर के सञ्चित ऐश्वर्य,
मिला है यह वैराग्य अनन्त!

(९)

भुला देना जीवन की साध,
डुबा देना बीते का लेश।

एक रहने देना यह ध्यान,
क्षणिक है यह मेरा परदेश ?

मृत्यु

(१)

गगन सी वारिधि सी गम्भीर,
भाग्य जैसी निश्चल अज्ञात !
प्रलय सी मारुत सी बलवान,
अँधेरी सी जीवन की रात !

(२)

कुटिल यह तेरा क्रूर कटाक्ष,
हलाहल या मदिरा की धार !
हुआ जाता है संज्ञा—हीन,
महा निन्द्रा में यह संसार।

(३)

कुलिश के से हैं तेरे हाथ,
प्राण है निष्ठुरता का सार,
हृदय में नयनों में हे मृत्यु !
भरा क्या ज्वाला का उद्गार ?

(४)

मोदनी के रत्नों से क्रूर,
द्वेष है या करती हो प्यार ?

पकड़ती हो क्यों हाथ पसार,
हमारे जीवन की पतवार ?

(५)

जिसे खिलता इतराता देख,
मौन हो करती हो उपहास।
चला जाता उसका सर्वस्व,
हाय यह कैसा उद्भुत हास !

(६)

शुष्क बिखरे पुष्पों का ढेर,
कहीं उजड़े उपवन का वेष।
कहीं सागर में उमड़ती धूल,
कहीं मरघट बन जाते देश।

(७)

किसी के नयनों में अविराम,
अश्रु है प्राणों में संताप।
कहीं सूना जननी का अंक,
कहीं विरहाकुल का परिताप,

(८)

कहीं माता विहीन का ताप,
कहीं विधवा का आरतनाद।
देख कर के मानव का त्रास,
तुम्हे क्या होता है अह्लाद !

(९)

क्रूर कर्म्मे ! बन कर पाषाण,
इन्हें ले जाती हो किस देश ?

तुम्हारी निष्ठुरता में मौत,
छिपा क्या है कोई उद्देश !

(१०)

भरी काले अञ्चल में मृत्यु,
कली जो थी वृन्तों का सार।
सजाओगी इनसे उस पार,
कहो क्या सोने का संसार ?

(११)

भेजता है तुमको क्या देवि,
हमारे जीवन का आधार ?
ढूँढ़ कर ले जाने को साथ,
जिन्हे मिलता है उसका प्यार ?

(१२)

लिखा तेरे नयनों में मृत्यु,
हमारे प्रियतम का संदेश।
भूल जिसको हो कर उन्मत्त,
आज हम आये हैं परदेश।

(१३)

पसारे अन्तरिक्ष में मौन,
हमारे आलिंगन को हाथ।
तुम्हे क्या भेजा उसने प्राण,
उड़ाले जाने को साथ !

(१४)

हमारी प्यारी तरुणी हेत,
भँवर हो अथवा कर्णधार ?

तुम्हीं पहुँचाओगी क्या अन्त,
हमारे जीवन के उस पार ?

(१५)

लूट लेता जिनका सर्वस्व,
छला करता जिसको संसार,
हास्य करता जिन पर नैराश्य,
देख कर के तरिणी मँझधार !

(१६)

तुम्हीं बन जाती हो तूफान,
गरजती हो लहरों के बीच।
भयानक सागर के उस पार,
क्षणिक में पहुँचाती हो खींच।

(१७)

न रचता जो तुमको करतार,
विश्व में होता किसका मान !
न मिलते यह आँसू के हार,
धरा को है जिनका अभिमान।

श्रीमतीअध्यापिका महादेवी शर्मा

(६५)

मौन मिलन

(१)

बना रहता है वैभव एक—
सदा जिसकी छाया में मौन!
प्रतीक्षा में उसके सविराम—
मूक रोदन करता है मौन!

(२)

सदा जिसकी आशा के बीच—
फूलता फलता है संसार।
रूप ही आदि, रूप ही अन्त—
रूप ही है जिसका आकार

(३)

वही चिर-सजन, बन्दी सुख-नैन
वही भावी-जीवन का सार
वही मृदुमय सुन्दर मुसकान
रसीले नयनों का उपहार

(४)

वही आशाओं के चैतन्य—
रूप का मीठा मीठा गान—
वही भावों का मृदुमय-कम्पन—
वही उत्कण्ठा का बलिदान—

(५)

वही सुषमा का पुण्य-प्रभात —
प्रणय का अनुरञ्जित मुसकान !
वही अनुराग, वही अभिसार —
जगा कर आ जाता अनजान !!

(६)

लजीली आँखों से उस काल—
बरस जाता थोड़ा उपहार !
मोतियों की बन जाती लड़ी—
छिपा कर वैभव का संसार !!

(७)

और जगती तल होता मौन—
तिमिर छा जाता है चहुँ ओर !
पास में, अर्ध-निशा के बीच
खेलता रहता है चित चोर !!

(८)

पुनः आती ऊषा ले सङ्ग—
प्रणय आख्यान प्रफुल्लित गान
प्रणय की दीप्ति, प्रणय का तेज
प्रणय की सेज, प्रणय का दान !!

(९)

और उस मौन-मिलन के बीच
सखी विस्मृति आती ले सङ्ग।

वेदना की मतवाली कान्ति
प्रणय की वह निस्तब्ध तरङ्ग

निराशा

(१)

किसी सोई समाधि में बैठ—
कौन करती है हाहाकार?
किसी अतीत गौरव को देख—
छिपा लेती अपना आकार!!

(२)

किसी बिछुड़े जीवन की याद
मिटा अपने अञ्चल में मौन!
भग्न आशाओं के सब तार
बजा करके छिप जाती कौन?

(३)

हृदय की आकुलता को सींच
बहाती है नयनों के छोर!
वेदना का सारा इतिहास
दिखा देती आँसू की ओर!!

(४)

लालसा की नीरव मुस्कान,
कल्पना का सुखमय परित्याग!

व्यक्त करके आँसू के बीच
डुबा देती अपना अनुराग !!

(५)

बहुत दिन की सेाई वह साध—
जगा कर तुम आई हो आज !
करो यह नूतन-तन शृङ्गार,
सजनि, इस जीर्ण कुटी को साज !!

(६)

त्याग का दे देना उपहार,
बजा देना वीणा के बीच—
हृदय के निद्रित अस्फुट गान,
वेदना के भावों में सींच !!

(७)

मिटा देना मीठा चैतन्य,
डुबा देना विस्मृति का भाव !
प्रतीक्षा के परदे में बैठ,
छिपा लेना हिय चातक-चाव !!

(८)

निखर कर हृदय-शूल से सजनि,
बिखर जाएँ मर्मों के सार !
शून्य में हो जावें उत्सर्ग,
समर्पण के सारे उपहार !!

नीरवभाषण

(१)

मौन जब बनता गिरा नवीन,
भाव गहता भाषा का छोर !
जहाँ स्मृति में विस्मृति का सार,
जहाँ अनन्त का मिलता ओर !
वेदना का वृश्चिक-दंशन,
वहीं तुम हो नीरव-भाषण

(२)

जहाँ वसन्त का होता अन्त,
जहाँ दुख है होता अविच्छिन्न !
जहाँ मानस का क्षुब्ध-वियोग,
जहाँ अभिन्न होता है भिन्न !
जहाँ वियोग का परिरम्भन,
वहीं मिलता नीरव-भाषण

(३)

सुधा में जहाँ गरल का वास,
गरल में जहाँ व्यथा की तान !
जहाँ दृग-अञ्चल से नव नीर
वेदना का करता आह्वान !
जहाँ जीवन में निर्वासन,
वहीं तुम हो नीरव-भाषण !

(४)

जहाँ होता अनन्त-विच्छेद—
प्राण का प्रियतम से अपमान !

जहाँ संशय का काला मेघ,
सदा करता सुख का अवसान !
प्रतीक्षा नित करती रोदन,
वहीं रहता नीरव-भाषण !!

(५)

लालसा के नीरव उपहार
जहाँ नित बरसाते हैं नैन !
जहाँ आशा के अस्फुट रूप,
नष्ट हो जाते हैं दिन-रैन !
पास में सदा निराशा बन,
वहीं तुम हो नीरव-भाषण !!

(६)

जहाँ पंकज से मधुरालाप,
निशा-नभ में हो जाता मौन—
जहाँ प्राणों का नीरव गान—
न जाने हृदय हिलाता कौन !
त्याग देते हैं जीवन-धन,
वहीं मिलता नीरव-भाषण !!

(७)

जहाँ भावों में है विभ्रान्ति
जहाँ इच्छाओं का निर्वाण !
जहाँ उत्कण्ठा का बलिदान !
मूक-रोदन होता जीवन,
वहीं रहता नीरव-भाषण !!

(८)

जहाँ आशाओं में नैराश्य
जहाँ इच्छाओं में संगीत !
जहाँ अनन्त-रोदन का राग—
जहाँ छिप जाता दिव्य अतीत !
अश्रु जब करते आवाहन,
तभी होता नीरव-भाषण !!

स्मृति

(१)

किसी मूक भाषा की कविते,
नीरवता के अस्फुट गान !
चिर वियोग की मधुर वेदना,
आशा की मृदुमय मुसकान !!

(२)

चिर सहचरि अनन्त जीवन की,
जाती होकर के अवशेष—
भावों के विभ्रान्त-प्रान्त को—
किन्तु उन्हे देना सन्देश !!

(३)

"इस अनंत-रोदन-वारिधि में,
मूक न हो जाए सङ्गीत !
छिप जाएँ न निराशातम में,
सुरभित-सुमनित-दिव्य-अतीत" !!

श्रीज्योतिप्रसाद मिश्र "निर्मल"

(सम्पादक—मनोरमा)

जन्म-काल – १९०४ ई०

जन्म-स्थान – सिंहगढ़

(प्रताप गढ़)

चयनिका

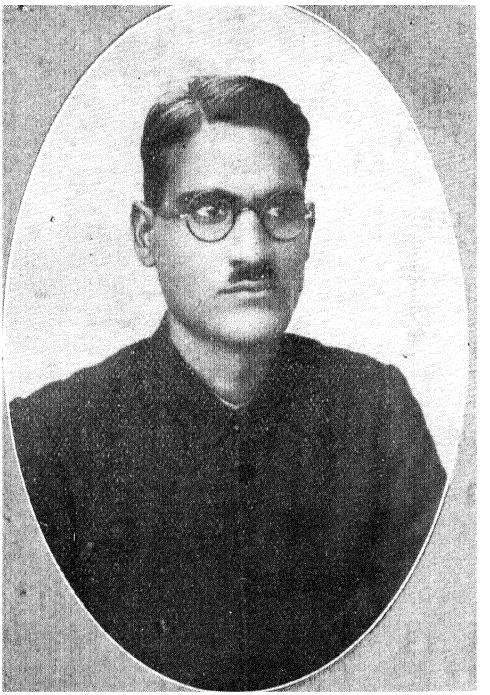

पं० ज्योतिप्रसाद मिश्र " निर्मल "

अनुरोध

कहाँ हो प्रियतम, प्राणधार?
बुलाया तुमको कितनी बार।

कंचन-रथ पर तुम जब नभ में करने लगे बिहार;
वसुधा में फैला किरणों के अनुपम हाथ हज़ार।

देखते ही झट खोल किवार,
बुलाया तुमको कितनी बार।

प्रकृति हुई जब मौन, सितारे करने लगे कलोल,
हँस-हँस कर तुम लगे झाँकने नभ की खिड़की खोल।

नेह से वारम्बार निहार,
बुलाया तुमको कितनी बार।

होने लगी प्रवाहित जब वह सुरभित, स्निग्ध समीर,
सुन वार्ता गंभीर हो उठा मेरा हृदय अधीर।

वेदना से कर दीर्घ प्रकार,
बुलाया तुमको कितनी बार!

जब घनश्याम लगे घहराने नभ में चारों ओर;
देख साँवली कोर, नाचने लगा मौन मन-मोर।

प्रेम से प्यासा हो बेज़ार,
बुलाय तुमको कितनी बार।

डालों में छिप-छिप जब फिरने लगी कोकिला कूक,
'कुहू' 'कुहू'—हो गया कलेजा—सुन मेरा दो टूक।

विकलता मन में बढ़ी अपार;
बुलाया तुमको कितनी बार।

मनो मोहिनी पड़ी सुनाई मंद मधुर झंकार;
कुसुमों पर जब लगी गूँजने भ्रमरों की गुञ्जार।
हो उठा मेरा जीवन भार;
बुलाया तुमको कितनी बार।
अर्ध रात्रि में; दिन के श्रमसे हो जब क्लांत महान;
लगे किसान सुनाने सत्वर करुणा-पूरित गान।
बह चली नयनों से जल-धार;
बुलाया तुमको कितनी बार।
होने लगा दग्ध विरहानल में जब जीवन-प्राण;
तुम्हें पुकारा पा जाने को इस जग से निर्वाण।
नहीं आए पर मेरे द्वार;
बुलाया तुमको कितनी बार।

अपनी भूल

(१)

न मैंने तुझको पहचाना।
कहाँ गई जो मन-मानस में लहरी लोल हिलोर।
मुझको तेरे प्रेम-स्मृति के विरह-वारि में बोर॥
सह सका नहीं यातना घोर
ढूँढ़ने चला विश्व की ओर;
डोलता रहा मौन मन-भोर,
किन्तु हा! मिला न पथ का छोर;
पर्वत सरिता कूप सरोवर वन उपवन में छाना॥
न मैंने तुझको पहचाना॥

[२]

मोह-निशा के घोर तिमिर ने ताना अचिर वितान।
जगत-यातना में फँस कर मैं हुआ अबोध अजान॥
तभी तुम आये मेरे द्वार
बुलाने लगे पुकार पुकार;
—"अरे क्यों पड़ा मौन मन-मार,
यही क्या विमल विश्व का सार;
उठा नहीं—तब चला गया तू देकर के ताना॥
न मैंने तुझको पहचाना॥
उषा ने मेरी ओर निहार,
दिया झट घूँघट-पट को टार;
बज उठे हृत्तन्त्री के तार,
पड़ी कानों में मृदु-झङ्कार;
आँख खुली जागा पछताया तब पीछे जाना॥
न मैंने तुझको पहचाना॥

अनुरोध

(१)

कहाँ हो आओ! कुछ बोलो
विरह-कथा से व्याकुल हो कर इधर उधर चकराता।
हा, हा, हर-हर, की हलचल में तेरा पता न पाता॥
भटकता फिरूँ न सूझे पंथ।
तुझे मैं खोज खोज हारा।

प्रबल पावन उन्मादों को,
दबाती है दुविधा द्वारा ॥
हृदय तुला पर मेरे इस दीवानेपन को तोलो ॥
कहाँ हो आओ कुछ बोलो ॥

(२)

खड़ा तुम्हारे द्वार पुकारूँ बिकल वेदना भारी।
भूख लगी है मुझे प्रेम की मैं हूँ प्रेम-भिखारी ॥
प्रेम का बंधन बड़ा सजोर,
पड़ा उलझन में भरमाता।
सुलझने ज्यों ही बढ़ता हाय,
उलझकर त्यों ही रह जाता ॥
मेरी दर्द भरी बातों में सत्य असत्य टटोल।
कहाँ हो आओ कुछ बोलो ॥

(३)

अन्तर्नाद कभी सुनता हूँ जब निशि में वासर में।
भव्य-भावनाओं की लहरें उठती हैं हृत्-सर में ॥
हृदय-वीणा सस्वर अनमोल,
गान स्वर्गीय सुनाती है।
प्रणय में पड़ कर हो अलमस्त
भूल सब सुधि बुधि जाती है ॥
आपस के उस बीच में पड़े पर्दे को खोलो।
कहाँ हो आओ कुछ बोलो ॥

(४)

नहीं सुहाता भीतर बाहर आगे ऊँचा नीचा।
सरित सरोवर कूचे गलियाँ मनहर बाग बगीचा ॥

बताऊँ क्या तुमसे दिल खोल,
नहीं बतता है बतलाते।
हमारी हालत है बेज़ार
देखते हो आते जाते।
आओ बोलो बचन सुधा की मधु मिसिरी घोलो॥
कहाँ हो आओ कुछ बोलो॥

(५)

जोह रहा हूँ बाट तुम्हारी सदियों से हे प्यारे!
करता हूँ आह्वान निरन्तर है मंजुल मतवारे!
किया मामा ने मट्टिया मेट,
घेर कर चक्कर में डाला।
दीखता पथ का ओर न छोर,
भटकता मानो पी हाला॥
हाथ पकड़ लो राह बता दो मेरे सँग हो लो॥
कहाँ हो आओ कुछ बोलो॥

लीला

(१)

तुम्हारी लीला ललित ललाम।
जिसे देख कर विश्व अलौकिक पाता है विश्राम॥
ऊषा के नव अरुण पटल में,
विकसित कोमल किसलय दल में।
मधुर मनोहर कलित केलिमय

विहरत विहङ्गों के कल कल में,
शोभित है अभिराम।
तुम्हारी लीला ललित ललाम॥

(२)

परम रम्य मञ्जुल उपवन में,
निर्मल सुन्दर सरस सुमन में,
महानन्द वर्धक मुददायक
सुरभित शीतल मन्द पवन में,
व्याप्त तुम्हारा नाम।
तुम्हारी लीला ललित ललाम॥

(३)

विलसित नभ के चारु चन्द में,
मञ्जु प्रकृति के निरानन्द में,
कलित कल्पना भव्य काव्य में
भावुक कवि के दिव्य छन्द में,
प्रकटे पूर्ण सुदाम।
तुम्हारी लीला ललित ललाम॥

(४)

मेरे निर्जन नीरव घर में,
हँसते छिप कर सभी पहर में,
पद प्रक्षालन करते रहते
मन मानस की लोल लहर में,
तुमको कोटि प्रणाम।
तुम्हारी लीला ललित ललाम॥

श्री ब्रजकिशोर लाल "श्याम"

जन्म-काल—१९०९

जन्म-स्थान—रामापुर

पोष्ट—गोपीगञ्ज

बनारस (स्टेट)

(१)

तुमसे

अन्तर ज्वाला की चंचल लपटों में तुम्हें जला दूँगा।
दिल का सब अरमान खींच आँसू में घोल गला दूँगा।
पागल-प्राणों के कोनें में कोमल प्रलय मचा दूँगा।
आहों की कम्पित-प्रतिध्वनि पर नीरव-नाँच नचा दूँगा।
सच जानों इस विश्व मञ्च पर आ कर मज़ा चखा दूँगा।

(२)

मेरे जीवन

मेरे जीवन ज़रा कलेजे पर कोमल पीड़ा कर दे,
जर्जर विकट पहेली पर आ अलसायी क्रीड़ा कर दे,
तार तार में ताल ताल में प्रियतम का स्वर लय भर दे

अकुलाई प्यासी आँखों में मन्द मन्द मदिरा भर दे,
क्षण भर भूल आज अपने को विश्व तुम्हीं में लख पाऊँ,
मूक रागिनी में मिल तेरी, सौ सौ छन्दों में गाऊँ।

(३)

अनुरोध

भोले पथिक बना क्यों फिरता वन निर्जन में मतवाला ?
बे-होशी में दुलक न जाये देख जरा यौवन प्याला !
कूद पड़ा मत देख यही वह धधक रही कैसी ज्वाला।
लाखों जले चले जाते हैं, बने पतिङ्गों की माला !
कोमल-कमल-किशोर अङ्ग ले ओ अरे बह जायेगा !
पगले ! पद न बढ़ा आगे है मोह-सिन्धु ही पाएगा !

(४)

चितेरा

कौन चितेरे, तेरे चित्रों की कीमत पहिचानेगा ?
किससे क्या कहते हो, बोलो कैसे कोई जानेगा ?
यह पागल संसार मुग्ध हो आलिंगन हित जानेगा !
" मूक-वेदना, तेरी है, यह कैसे कोई जानेगा ?
कौन जान सकता ?-हाँ कह तो दिया चितेरे, क्या कहते!
ऐसी मूक पहेली पर बस तू हीं, नर्तन कर सकते !

श्रीशिवदेव उपाध्याय 'सतीश'

जन्म तिथि—माघ सुदी वसंत पंचमी

सन्—१९१० ई०

जन्म-स्थान—रामापुर

पोष्ट—गोपीगञ्ज

बनारस (स्टेट)

उत्सर्ग और उपहार

हे अनन्त ! तेरे पद पर—
जी का अरमान बिखर जाये ;
तेरी-वीणा मूक कलेजे—
की प्रतिध्वनि से भर जाये।
जीवन का कण कण रोता—
पथ आँसू से तर कर जाये!
धूल भरा संसार,
मंजु मोती-सा नाथ! निखर जाये
× × ×
इस जीवन-बन में मेरे—
प्रियतम ! बसन्त बन आवोगे ?
या पतझड़ की झड़ी लगा,
अनुदिन यों हीं तरसाओगे ?

जादूगर

तेरी जादू में पड़ कर
यह विश्व गला सा जाता है,
तारों भरा अनन्त
न जानें कहाँ चला सा जाता है।
सुन तव नीरव गान,
वधिर गिरि-पुञ्ज हिला सा जाता है।
भू का कण कण उड़ नभ में,
हे देव ! मिला सा जाता है।
काँप रहा है विश्व

प्रलय की घड़ी शीश पर नाच रही,
झुलसा जाता हृदय,
देव ! रोको लग कैसी आँच रही।
जादूगर ! अब यों न चला जादू
न कलेजा जल जाये।
यह नन्हीं सी मूक रागिनी
देख न विश्व निगल जाये

अनन्त के पथ पर

महाकवे ! तव अनुपम लीला,
है तेरा विचित्र व्यापार।
मूक भारती भी बन जाती,
लख अलक्ष्य अक्षर मन भार।
तेरी कविता के कण कण में
भिदी कौन सी कवे ! शराब !
—पी यह सारा विश्व—
सुप्त हो जाता जो चेतना विसार।
क्या कोकिल-आलाप ! और—
यह क्या चातक विरही का गान।
सारा विश्व खड़ा सुनने को,
तेरी वीणा का स्वर-तार॥
मैंने, कवे ? उलट डाले—
तव महाकाव्य के सारे पत्र
मैंने तेरा नीरव "अनहदनाद"
सुना कुछ करके प्यार।
+ + +

तो क्या विश्व कवे ! मुझमें—?—
हाँ देही सकता क्या उपहार।—
यह लो चढ़ा दिया चरणों पर
अपना छोटा सा संसार। २७—

अन्तिम-कामना

जब निशीथ में भुवन-मोहिनी—
तेरी वीणा को वह तान—
अलसाये प्याले पर प्याले,
ढलका देती है छविमान!
बह जाता है बन पागल
पागलपन सा सारा संसार,
धन्य तुम्हारी वीणा! औ!
हँसती शराब सी तेरी तान।
मतवाला————————संसार
कलेजे के कोने में भर कर आह!
छुप जाता है तुमसे
हे सब से छुपने वाले! छविमान!
'अपनापन' आँखों की पलकों में
कर अपना शान्ति कुटीर
पूर्ण वियोगी बन कर सो जाता है
कर आलस-सा मान!
निखिल प्रकृति का वह इठलाना,
और छलकता हुआ रहस्य
बन कर खुद एकान्त—

रुदन का ठहराया करता है मान।
मूक रुदन, अदृश्य आँसू से
विश्व भिगोया करता है।
हे सुजान ! जाने न
वेदना कौन सताती तुम्हें अजान।
तेरे उस चेटक में फँस कर
हे मेरे कुछ। यह संसार,
तेरी गोदी में सेा,
पाता है मन चाहा हर्ष-निधान !
अहा ! तुम्हारी नीति अनूठी,
है अजीवता का संचार।
जो होते बलिदान,
वही बस पाते तेरा जीवन दान
—वाद जोहता हूँ लेा आवो !
कर दूँ यह जीवन उत्सर्ग
इसीलिये तेा नीरव निशि में
किया तुम्हारा है आह्वान।
हे मेरे वह ! हृदय-विपञ्ची
तारों सौ सौ तारों से—
तुझमें मिल जाने को,
तेरी ही वीणा में जाता गान !

अनन्त में

बहुत दिनों की चाह भरी थी—
ज़रा तुम्हें प्रिय ! लख पाऊँ,

तेरे जीवन का बिखरा जादू
हाँ नाथ ! परख पाऊँ
तुझे खोजने चला एक दिन
(आँखों का पर्दा न टला)
इधर उधर खोजा अनन्त !
पर तेरा कहीं पता न चला।
हे व्यापक ! थक अंग अंग
अपने को जीवन हार चला,
जी का उठता ज्वार चला,
आशा का अखिल उभार चला !
आँसू-सा सब अन्धा पागल पन,
आँखों का ढलक—पड़ा।
देखा तेरा वह निखरा—
सौन्दर्य हृदय पर छलक पड़ा
सो वह आज तुझे पाकर,
—अपने से हृदय लगाऊँगा—
इस संसार मरुस्थल में
जीवन की लहर बहाऊँगा।
किन्तु, खोजता हूँ अपने को—
कहीं नहीं कुछ पाता हूँ।
उफ़ ! तेरे जादू में पड़,
जाने न हुआ क्या जाता हूँ ! २४

विराट वृत्ति में

मैं थक गया अरे व्यापक !
तेरे पथ पर चलते चलते;
धधक पड़ी इन आँखों से ज्वाला
आँखें मलते मलते।
कहाँ जा रही हैं आखों की—
चिनगारी यह भी अज्ञात,
रो न पड़े तुम ऐ निर्दय !
जीवन को यों छलते छलते !!
मत सोचो—वह निकले—
अन्धी आँखों से आँसू-जल-कण
सच जानो-बच रहा कलेजा,
ज़रा ज़रा गलते गलते ! !
क्या न देखते ही—यह सारा विश्व
गला क्यों जाता है—
मत सोचो कुछ नाथ !—
हृदय की अभिलाषा जलते जलते।
मतवाले जग के अब यों—
ताने न सहे जाते हृदयेश !
जीवन बिखरा जाता है—
अनुदिन शराब ढलते ढलते !
यह तेरा पथ है अनन्त,
अब मुझे छोर मिल जाने दो,—
चूम चूम 'कर आलिंगन' —
जीवन की 'साध' मिटाने दो॥

प्रेम के नेपथ्य में

मेरे जीवन की प्रियतम !
पहली वह मूक पहेली थी,
कर आलिंगन, अलसायी—
आँखों से हँस हँस खेली थी—
झुक झूक तेरे पद पर कुछ:
सौन्दर्य्य भरा दुख झेली थी,
मूक कलेजे की प्रतिध्वनि की
नीरव सहज सहेली थी।
आ ! आँसू की आग लगा दे,
स्वर्ण कुसुम-सी खिल जाये,
यह नहीं-सी मूक पहेली,
प्रियतम ! तुममें मिल जाये।

अन्तिम चाह

प्रहरी ! प्रहरो ! ज़रा बता दे, कैसे खुले किवाड़ ?
प्राण नाथ को ढूँढ रही हूँ छिपे कहाँ ?—किस आड़ !
किस मन्दिर में ? क्यों इतने दिन ! प्रियतम रहे विराज !
क्या छलिया को पुनः निकलते आती है कुछ लाज !
काम बनाते हैं वह अपना—
कहाँ प्रलय का साज,
जीवन की अन्तिम घड़ियाँ,
गिन रहा कलेजा आज।

पं० पद्मकान्त मालवीय

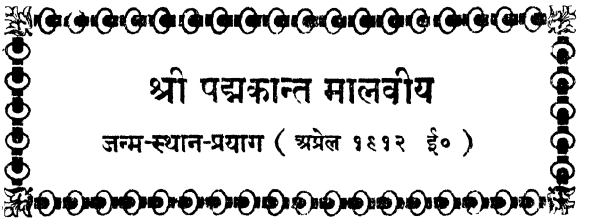
श्री पद्मकान्त मालवीय
जन्म-स्थान-प्रयाग (अप्रेल १९१२ ई०)

प्रियतम से

स्मृति के इस मधुर अङ्क पर,
यह आना जाना तेरा।
छिप छिप कर मुझ दुखिया पर ही
दुख समूह ढाना तेरा॥
मधुर हास्य की सुन्दर रेखा;
क्रीड़ा करती रहती है।
कलित कंठ की स्वर लहरी में,
गुन गुन कर गाना तेरा॥

* * *

नहीं रहा कुछ पास शेष में,
अर्पण मैंने सभी किया।
प्रेमातुर हो हृदय सरीखी,
मधुर वस्तु का दान किया॥
फिर भी सुखी न रहने देते,
मैंने हाय! किया यह क्या?
जो तुम ऐसे निठुर हृदय को,
मधुर वस्तु का दान दिया॥

* * *

छुटे बाण हैं लौट न सकते,
प्रियतम! मैंने मानी हार।
यह केवट विहीन नौका; हो
कैसे जीवन सागर पार?
जो कुछ हुई भूल अनजाने में,
उसको अब क्षमा करो॥

चिर दुखिया को सुख पहुँचाओ,
अब तो कर पूजा स्वीकार।

भिखारणी का गीत

जब भिखारणी लेकर वीणा गाती उदधि किनारे,
उसकी लय में लय हो जाते हैं पशु पक्षी सारे।
विश्व वेदना से दुःखित हो जब अभागनी रोई,
दुनिया उसके रोदन की नीरवता में जा सोई।
अति विक्षुब्ध असीम सिन्धु में भी उठती न तरंगें,
जितनी उसके मन मंदिर में उठतीं अमित उमंगें।
कथा न कह सकता मैं उसके और प्रकृत चुम्बन की।
है प्रत्येक बात में उसके छाप निराले पन की।
उसकी प्रकृत सहेली है और वह है प्रकृत सहेली,
दोनों का संसर्ग विश्व के लिये अबूझ पहेली।
जिस दम आई मार लात वह इस दुनिया के सुख को
विश्व निरखता था आखें फैलाकर उसके मुख को
ऐसी मादकता थी उस कमनीय कान्ति की छवि में,
हमने निरखा कभी न अबतक सुन्दर प्रातः रवि में
कातर स्वर उसकी वीणा का पहुँचा भव्य भवन में
सोनेवाले जाग उठे सब लगे सोचने मन में
मिथ्या है यह जगत यहाँ का मिथ्या सब अभिनय है,
हम दुखियों के लिये मृत्यु ही केवल एक निलय है।

"दीपावसान"

आकर जब अज्ञात पवन की लगी देह में लहर कठोर,
हृत्तन्त्री सब काँप उठी तब सह न सकी उसको झकझोर।
मैंने कहा ठहर! मुझको गा तो लेने दे मन भर,
हो स्वतन्त्र बन्दी आशायें भी तो बिहरें क्षण भर,
बहुत समय है लगा पिराने मैं मोती की लड़ियाँ,
इन्हे तोड़ने में तू लगा भला कुछ भी तो छड़ियाँ।
किन्तु न रुकी रञ्च वह सुनने को मम करुण कहानी,
करने लगी निठुर होकर वह बरबस ही मनमानी।
दूर हो चुकी थी सब उसके मन से कोमल क्षमता,
सुनती करुण कहानी कैसे रही न उसमें ममता।
मैंने दीप छिपाया आतुर हो अपने अञ्चल में,
व्यर्थ हुआ व्यापार वहाँ भी जा पहुँची पलभर में।
दीप शिखा हो क्रुद्ध तड़ित सी ग्रीष्म भाव से भड़की,
देख उसे यों एकबार झुकझुकी पवन को धड़की।
किन्तु अंत में हन्त उसी के क्रूर करों को मिली विजय,
फिर न कभी उस दिव्य ज्योति को देख सका यह सदय हृदय।
हाँ विस्मृत पर पर है अब तक छाया कुछ उस छवि की,
दी जा सकती उपमा जिसकी अस्त सन्निकट रवि की

टूटी आशायें

नीरव नीले नभ मंडल से टूटे आशा तारे
अंचल फैलाकर कह दौड़ा मैं यों आ! रे आ! रे

पर रुक सके नहीं आकर भी वे झीनी चादर में,
उन्हे खोजता फिरा यहाँ इस दर में फिर उस दर में।
नवल प्रभाताकाश ज़ोर से हँसा देखकर मुझको,
पूछा, कहाँ चला? लाया है कौन यहाँ पर तुझको
लहरों का अविराम नृत्य थम गया मुझे ज्यों देखा,
कोई भी इन दुःख रश्मियों का कर सका न लेखा
इस विक्षिप्त शोक सागर में लहरें उठतीं जितनी,
पहरों उन पर बैठ किलोलें करता हूँ मैं उतनी।
अन्तस्तल में वही पुरानी स्मृतियाँ चुभतीं आकर,
कुण्ठित होतीं आवर्तन मादकता में टकराकर

अश्वासन

चिन्तामग्ने ! देख रही है
तू क्या ऊषा का सुप्रभात?
यद्यपि निशा शेष है अब भी,
तदपि नहीं कुछ भय की बात।
प्रतिभा की प्रतिभा में सुन्दर
छटा दिखाई पड़ती है,
उसके पद चालन की ध्वनि तो
हमें सुनाई पड़ती है।
इस निसर्ग का नियम यही है
पहले पतझड़ पुनः "वसन्त"
धैर्य हृदय में धरो शीघ्रही
आवेगें अब तेरे कन्त।

उलहना

(राग मालकोष)

क्या तुम मिथ्यावादी भी हो ?
आने कहा न आये प्रियतम !
इसका क्या कारण कहो ?
विधियुत तव पूजन करने को
अश्रुधार से पद धोने को—
पद्म हार ले खड़ा हुआ था
खोले कुटिया द्वार ।
न आये किया निराश,
इसका क्या कारण कहो ?

ठाकुर वीरेश्वरसिंह

जन्म स्थान-प्रयाग (१९१२ ई०)

[१]

मेरी वीणा

लेकर टूटी आशाओं के,
मैंने टूटे फूटे तार।
जोड़ जोड़ कर किसी तरह से
की है यह वीणा तैय्यार।
विगत समय की सुस्मृतियों के
बना बना कर सुन्दर गान,
आज इसी पर छेड़ूँगा मैं
मुरझाये जीवन की तान।
देखो, तुम समीप मत आना,
सुनने को मेरे उद्गार,
सहन कर सकेगा न कदाचित्,
मृदुल हृदय यह करुणा-भार।
हृदय को लेना अपने थाम
कठिन होगा इनका आभार
बिखर मत पड़ना बन असहाय,
न फट पड़ना बन करके दीन।
न भर आवें ये आँखें कहीं,
न होवे मुख की आभा क्षीन।
देखना है मुझको यह कौन
किया तुमने प्रेमी से होड़
हृदय की ही कठोरता प्रिये।
तुम्हारे दृग को देगा तोड़।
चढ़ रहें होंगे मोती इधर
उधर होती होगी मुसक्यान।

झुकी होगी तुम मेरी ओर
हो रहा होगा मम अवसान।

---

(२)

कुटिया का दीपक

उद्विग्नते ! करो कुछ धीमी,
बहुत न लौ बढ़ जाय कहीं।
जल करके उनके आने तक,
दीपक मत बुझ जाय कहीं।
देख न आँखे भर कर इसको
नज़र न उसके लगे कहीं।
धीरे छोड़ो सखी, न आहों
की ठोकर लग जाय कहीं।
झिल मिल होता, देख
तनिक अँचल को और बढ़ा देना।
उनके आने तक कम से कम
इसको सखी बचा लेना।

---

(३)

तुमसे

डालती क्यों दुविधा में आह !
भला बनती हो क्यों यों मौन ?
प्रेमियों में भी कैसा गर्व
प्रेम से इसका नाता कौन ?

दिखाया था क्यों वैसा भाव,
किया था क्यों आशा सञ्चार ?
बदलना था जब यों हीं चाल
बढ़ाया था क्यों इतना प्यार ?
प्रथम देकर अनुमति मुसक्यान,
झूकीं थी फिर क्यों मेरी ओर ?
भरी आँखों को मेरी देख,
बढ़ाया था क्यों अञ्चल कोर ?
नयन के ये मोती दो चार
चढ़ाने आया हूँ इस ओर।

---

(४)

इष्टि-प्राप्ति

थीं अधखुली हुई आँखें,
मादकता उनमें छाई थी।
हृदय उमंगों पर था
नई तरङ्गों की बन आई थी।
नस नस में बिजली दौड़ी थी,
इस पर मैं इतराई थी,
यौवन की मदिरा पीकर
मैं कुछ ऐसी बौराई थी।
वे आये, ठहरे, बोले, पर
मैंने तनिक न ध्यान दिया,
यौवन छवि पर भूली-फूली-थी
अनुचित अभिमान किया।

ग्रीष्म थपेड़ों से मुरझाई,
सूखी झुकी हुई चुपचाप,
एक एक बातें जीवन की—
सोच रही थी कर संताप।
वे फिर आये—झुकी और मैं,
लज्जा से सम्मान किया,
झीनी चादर में न रुका, पर
प्रियतम ने जो दान दिया।
हृदय फट पड़ा—बिखर गई,
अपने को—चरणों पर पाया।
भूल भटक कर, गिर कर, बलि
हो करके निज अभीष्ट पाया।

---

(५)

भिखारिणी

भावों की रानी हूँ, निज
दुख में भी मैं सुख पाती हूँ।
अपने मन से रोती हूँ, मैं
अपने मन से गाती हूँ।
फिरते-फिरते अपनी धुन में
जहाँ कहीं थक जाती हूँ।
आँखों में कर बन्द हृदय-धन,
उसी जगह सो जाती हूँ।

पापी दुनियाँ से, लुटने से
कभी नहीं भय खाती हूँ।
जैसे तैसे इस जीवन की—
घड़ी काटती जाती हूँ।

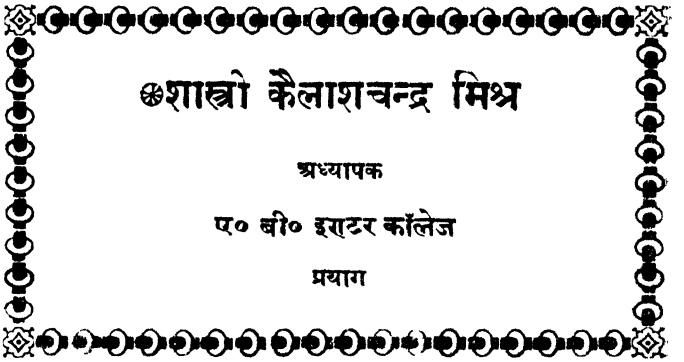

*शास्त्री कैलाशचन्द्र मिश्र

अध्यापक

ए० बी० इण्टर कॉलेज

प्रयाग

*"मैंने इस पुस्तक में कवियों की कविताओं को जन्म-क्रम से स्थान दिया है। आपकी कविताएँ मुझे समयानुसार नहीं मिल सकीं। इसलिये अंत में रखना पड़ा।—सम्पादक

'विनय'

पुजारी ! केवल अब की वारी !
'निभृत-विश्व' के 'छवि-मन्दिर' की खोलो आज किवारी !!!
बड़े यतन से 'विरह-कुञ्ज' से गतनिशीथिनी सारी
चुन लाई मैं कुसुम-; 'नयन की जहाँ फूली फुलवारी ! [पुजारी !]
' अटल-भक्ति-हिमगिरि . से निकसी मन्दाकिनी हमारी
भर लाई मैं चरण पखारन को अँसुअन की झारी ! [पुजारी !]
अक्षत ये कविता के पद हैं ' भक्ति-भोग, को लाई।
' विरह-जोति; आरती, हृदय की कीन्हीं पूजा थारी !!! [पुजारी !]
' पूजन थार , लिये रवि, शशि, सुर, भीर लगाये भारी।
' विरह-विधु, ये' विश्व-प्रकृति, सँग आये मिलि नर नारी !!!
पहिले वे पूजन करलें जो - लिये कनक की थारी !
'मृणमय-थार , लिये पीछे से मुझ अछूत की वारी !!!
पुजारी ! केवल अब की वारी !!!

'आशा'

हे ! आशे ! प्रभात-बेला की क्षणिक अरुणिमा का आभास !-
विभ्रम पूर्ण मचलते 'पंकज-किसलय, पर ज्यों शिशिर विलास
अथवा ज्यों आषाढ़-मास के नीर भरे बादल का रूप-
क्षण में छिन्न भिन्न होता है ;– तेरा भी है वही स्वरूप ॥
हे ! आशे ! 'छिन्नाभ्र खण्ड, सम क्षण में तुम मिटती हो हाय !!-
करके छिन्न हृदय मानव का; नयनों से जल-धार बहाय ॥
आशे ! मुग्ध बालिके ! क्यों तुम 'अभिलाषा-तटिनी' के तीर-
चुगती हो सिकता के सित-कण-मणि आशा से धर के धीर ॥
हे ! भोली ! 'नक्षत्र-जाल' में बाँध 'मालती-दल, की आस-

बँटने में तुम डोर हार के लिये,-रो क्यों वृथा प्रयास ?
हे ! तृषार्त हरिणी ! आशे ! तुम 'मरु मरीचिका' में लखि नीर-
जाती हो उन्मादिनि हाकर- मनमें तनिक न धरती धीर ॥
"हर-शृङ्गार-कुसुम" रजनी में ज्यों हँसते लघु जीवन पाय-
पै प्रभात की प्रथम किरण छू-रक्ततेमरण-शयन' हैं हाय !
यौवन में विकास से पहिले ज्यों मुरझाता उनका हास-
आशे ! तेरा भी उतना ही है- चंचल 'जीवन-आभास' ॥
उन पर 'पवन-सुन्दरी' आकर भरे वेदना मय उच्छ्वास
'प्राण-सखी' वैसे राती है - हे आशे ! तव शव के पास ॥
कुसुमों पर अभागिनी रजनी- 'शिशिर-अश्रु' बरसाती है-
तेरी भी समाधि पर रोने- 'नयन-कामिनी' आती है ॥
जीवन, क्षणिक; 'हास्य' मधुमय है; मृदु कलेवरे ! 'सुख-आवास' !
'इन्द्र जाल-माया' के सम हे ! तुम हो शोभा की आवास ॥
क्षणिक मिलन है-इसी लिये ही प्रिय हो अधिक स्वप्नमय-आस !
तेरे क्षणिक मिलन से प्यारी ! वञ्चित रहे न ये कैलास !!
जब मम-हृदय-समाधि-भूमि, में -देह तुम्हारी सोवेगी-
उस पर सखि ये 'प्राण-विरहिणी'-अपना दुखड़ा रोवेगी ॥
मृदुनिशीथनी में अभागिनी-'अश्रु-कुसुम' चुन लायेगी।
'प्रेम-विवश' हो सब समाधि पर सादर उन्हें बिछायेगी ॥
वह 'निराशता-सरिता-तट' 'पर, विरह-वेदनामय-उच्छ्वास'-
छोड़ेगी;—तब समझावेगा प्रिये ! तुम्हारा ही "कैलास" ॥

प्रार्थना

तोड़ दे मेरा सब आधार !!!
यही कर करुणा; करुणागार !!!

माली यदि तोड़े न साध से नूतन विकसित फूल—
तो कैसे पहुँचे वे मन्दिर-देव-चरण के कूल?
प्रार्थना ये ही बारम्बार.....[तोड़ दे...]
बूँद न यदि आवे जलधर की सुखमय गोद विहाय—
तो कैसे प्यासे तृण तरु की वह बन सके सहाय?
त्याग बिन जीवन है निस्सार.....[तोड़ दे...]
जीर्ण शीर्ण पत्रों को खावे यदि न शिशिर का काल।
तो कैसे वसन्त में पावे तब जीवन 'तरु-जाल'?
'मरन' है जीवन का शुचि-द्वार।.....[तोड़ दे...]
धन जन में फँस कर मन तुमसे पीतम रहे आजान।
'कमल-कोश' में फँसकर मधुकर तन करता बलिदान।
'संग' ही जग में कारागार।.....[तोड़ दे...]
तेरा दूत 'मरण' यदि मुझसे छुड़ा न दे संसार।
तो तुझमें 'मैं' मिल कर कैसे-होऊँ एकाकार?
विरह ही है मिलने का तार .....[तोड़ दे...]

'परिचय-हीन'

परिचय हीन तुम्हें मैं चाहूँ!
कैसे कर आरम्भ बोलना; मैं तुमको अपनाऊँ?
दस दिगङ्गनाएँ कुसुमों से करती हैं शृंगार!
किन्तु दीन 'तृण-कुसम'! मुग्ध हो चारों ओर निहार—
सरल को दे शोभा भार—
हृदय पर करते हो अधिकार!
तेरी इस सारल्य छटा पर हे! मैं बलि बलि जाऊँ!.....
ओझल कोने में वसुधा के-हे वसुरूप! किशोर!
लुके हुए मग जोह रहे थे कब से तुम इस भोर?

लाजमयि अखियों का तन जाल !
किया मन उलझा कर बे हाल !
शुभ्र वरन ! तेरे 'मुख-दर्शन में बसन्त सब पाऊँ !...
आकर चैत्र मास की सुषमा-सदा नहीं रहती है !
किन्तु तुझे मैं अमर बनालूँ—वाणी यह कहती है !
इसी से उठते हैं ये गान !
अमर अमृत करले तू पान !
कविता-की 'अमृत-कुटीर में मैं तुझको बैठाऊँ !!!
'श्यामल-गगन-वितान' तले जब, 'ऊषा-रानी' सजती है—
गूँथ बसन्ती-कुसुम कवरि में-धरनी पग पग धरती है !
भुवन में कर देती है क्रान्ति !!
दिखा कर अपनी उज्वल कान्ति !!
ऐसे समय कुसुम तुझ से मैं निज सुहाग रचवाऊँगी !!
युवा-तपन, कमलों को; घन को; जब चुम्बन करते हैं !
उस प्रभात के पुण्य-समय में 'प्रेम-गान' भरते हैं !
नाच उठता है जब आनन्द ?
अन्धेरा हो जाता है मन्द !
तब, तेरे कपोल से पीतम ! अधर युगल मैं लाऊँ !!!...

'आँसू'

जननी जब अपने 'प्राणों से प्यारे' शिशु को देती है—
किसी दूसरे की गोदी में; छिन वियोग सह लेती है।
मानों स्नेहमयी ममता भी, पल भर झपकी लेती है !
अथवा-'कृत्रिम-कठोरता' का अभिनय सा कर लेती है !
कौन हृदय है नहीं एक छिन जो वियोग सह पाता है—

शिशु का 'भाषाहीन-हृदय' जब विकल छिन्न हो जाता है ?
जननी की 'कृत्रिम-कठोरता' छिन में कौन भगाती है ?
मा का स्नेह जगाय, लाल को उससे कौन मिलाती है ?
द्वार खोल बाहिर आती है कौन शान्ति बरसाती है ?
माता की ममता से कोमल,—'उसको' कौन हँसाती है ?
'ममता-स्नेह-सिन्धु' पलकों ने कहाँ लुकाया मूँद ?
शिशु की मुग्ध, चकित, अँखियन में —वह आँसू की बूँद !!!

\+ + +

कञ्ज-कपोलों की छवि दूनी उज्वल कौन बनाती है ?—
मानवती रमणी पति से जब रूठ रूठ इठलाती है।
भक्त शिरोमणि भक्ति भाव से कौन सुरधुनी जाते हैं ?
स्वामी के चरणों को सेवक किस जल से नहलाते हैं ?
पुन्य नदी है कौन, जहाँ पर कठिन कलुष लय पाते हैं ?
किस के बल पर निब न बा ल गन मचल मचल जय पाते हैं ?
काव्य, कल्पना कवि-हृदयों के तहतह पर सौन्दर्य विकास—
फैलाती किन दिव्य सुमन की माला ? क्या करुणा का हास ?
शोभा की शौभाग्य मालिका !,

भक्तों का उपहार;
संदेशों का सार,

'प्रतिभा' की शुचि-आदि-भूमिका,—है आँसुन की धार !!!
'रामायण' की भव्य मूरती-मेघदूत का वह संदेश,—
उत्तरराम—चरित का प्रति पद-विकल राधिका का वह वेश,—
मदन-दाह से विह्वल रति की-अज की इन्दुमती पर आह—
करुण, विश्व के उस विलाप का कहाँ भरा है सिन्धु अथाह ?
आँखों के कोनों से धीमें 'दो' बूँदे गिरतीं हैं दीन—
यही विश्व के करुण राग की हैं अगाध सागर तल-हीन !!!

नन्हीं सी इक बूँद किन्तु हो 'अतल-सिन्धु' से भी गम्भीर !
विह्वल वसुन्धरा की शोभा ! हो तुम 'विश्व-हृदय' की पीर !
'कृतज्ञता-रमणी' की आँखें, प्रेम रागिनी की रानी !
'विरह-विधुर' 'आवेग-पूर्ण' उन नीरव कलियों की वानी !
मर्त्य लोक की सुन्दरता को करती हो लावण्य-निधान !
किसी भाग्य शाली कवि को मिलता 'अश्रुवाणी' का दान !
वारूँगा धन-धाम; धरूँगा आँखों की आँचल में मूँद !—
हे ! प्यारी स्वर्गीय सुखों से; प्यारी ! हे ! आँसू की बूँद !!!
सुख की शोभा ! कृतज्ञता की नीरव धार !
हे ! गम्भीर रागिनी-'करुणा-वीणा' के दो तार !
स्तम्भित हैं नक्षत्र ! राग में डूबा है 'द्यु-लोक' !
विह्वल करुणा स्रोत हो गया ये सारा 'भूलोक' !
तुझ में डूब नाम सार्थक निज, कर पाये अन्तर्यामी !
भक्ती का तू मौन सिन्धु, हैं जहाँ शयन करते स्वामी !

नयन-सीपियों के दो मोती !
कोमलता की सीमा !
बसो सदा मेरी आँखों में—
राग सुनाओ धीमा !

दूती विरह विधुर नयनों को ! प्रेमलता की मूल !
मर्त्य लोक की सुधा ! स्नेहमयि ममता के दो फूल !
मौनभाव से 'शारदेश' ! निज—
धरे रहो नयनों में मूँद।
और कौन अपना सकता है—
तेरी ये आँसू की बूँद !!!

विवश

ले चलो, प्यारी ! जहाँ ले जाओगी
मैं तुम्हारी वासना में हूँ बँधा !!
फूल हूँ तेरे गले की माल का।
मैं सदा इच्छा तुम्हारी पर सधा।
हे ! महा मंगलमयी ! इच्छामयी !!!
तार हूँ तव 'विश्व-वीणा' की यहाँ !!!
बज उठूँगा रागनी में आप की—
जिस तरह आघात दोगी तुम जहाँ !!
फूल बन कर चैतमें चरनों चढ़ा;
तेरी इच्छा से हुआ था मैं हरा;
दास हूँ तेरा 'सुरेश्वर-वन्दिते !
तृण अगर मैं तो तुम्ही मेरी धरा !!!
यत्न करता हूँ अगर स्वाधीन हो—
तू स्वयं 'बाधामयी' होती खड़ी !
फिर मुझे अपने 'भवन' के मार्ग पर
खींच कर लाती दयामयि ! उस घड़ी !!!
सत्य ही, जिसको स्वयं वरतीं तुम्हीं—
धन्य वह ही एक पाता है तुझे !!!
सुन्दरी ! 'जयमाल' अपने हाथ की—
बार इक पहिनाओगी क्या तुम मुझे ??

सम्बोधन

हे ! रे ! प्रिय मरन !
हे ! मेरे ! प्यारे ! सखा ? असरन शरन !

हे ! दूत मेरे प्रियतम के !
हे ! स्वामी अमर नियम के !
हुआ कै बार मेरे हृदय-भवन—
तव शुभागमन !!!.....हे ! रे !
जै बार आओ—मेरी कुटीर—
बजाओ वीणा मृदु गम्भीर !
पूरित कर जाओ आकाश, पवन !
हे ! रे ! हृदय-धन !.....
आदेश सुनाओ मुझे "करो-गमन" !
विस्मृत मम काज कराओ स्मरन !
कहो "पाना है मुझे अमर-मिलन"!...हे ! रे !
उठो ! हे ! अचेतन !.....हे ! रे !

तृण कुसुम

१—विश्व ! कौन स्मृति में रक्खेगा ?
क्षुद्र फूल धरणी का एक !
तेरे अञ्चल में खेलेंगे,
सुरभित सौम्य प्रसून अनेक !
२—क्षुद्र मेड़ की ओट, तृणों की
गोदी में मैं आया हूँ !
निज लज्जा में लुका हुआ हूँ
एक बूँद भर 'छाया' हूँ ॥
३—मैं प्रभात में शिशिर अश्रु-युत
आशा लेकर जगता हूँ—
संगीहीन, एक दिन भर का—
जीवन खोकर मरता हूँ !!!—

४—किसी किशोरी की माला का—
वह सुहाग-सुख मुझे कहाँ?
मेरा जीवन-मरण, मरण है
असुख जड़ित विश्राम यहाँ ? !!!
गर्वित उस गुलाब की आँखें—
मुझ पर घृणा बहाती हैं—
नैश सुहाग गर्विता बेला
ओस थूक बरसाती है ।—
६—हाय ! मुग्ध तम-प्रेम सुधा का
कण भर मैंने पाया है ।—
जीवन निधि जो है इतनी है—
वही चरण में लाया है।
७—किन्तु हाय ! सुन्दर फूलों की
रूपराशि का जहँ बाज़ार
हे ! कुरूप तृण कुसुम कहाँ तू—
यहाँ कहाँ तेरा संसार !!?
८—हाय ! सरल अन्तस्तल की इस—
सुधा बूँद की आशा क्षीण !
किसी अलक-तीरथ से पहिले—
पथ में होगी व्यर्थ विलीन !!—
९—ज्यों अलक्ष्य में जन्म लिया है
मुग्ध ! अभागे ! नन्हें फूल !
त्यों अलक्ष्य में मरण शयन रच
तू (धूसर) निर्जन क्यारी के मूल !!
१०—दो पल रवि की भ्रान्त किरण से
खेल लिए तेरे ये प्रान,

यही बहुत जीवन का आदर
अब माँगो अपना अवसान

निर्वासित स्मृति ।

विस्मृति बहिन ! कहाँ मैं जाऊँ
और कहाँ मेरा आवास ?
हाय ! जहाँ जाते विलीन हो—
नीरव प्रेम रुदन निश्वास ॥
मैं स्मृति हूँ—कैसे भूलूँगी—
वर्त्तमान ही में रहती—
मेरे लिए अतीत नहीं है
तुमसे मैं सच हूँ कहती !
सीता—सम—निर्वासित हूँ मैं,
प्रेमालय से, क्या अपराध ?
आँसू से भीगी फिरती हूँ,
उन्मादिनि सी मैं निर्बाध !!
किसी दयामय तपोधनी की—
दृष्टि न मुझ पर पड़ती है।
क्या उदार मानस में मेरी
छाया भी यों पड़ती है।
हाय ! एक कोना ओझल सा—
बिछा न प्रेमासन जिस ठौर।
वहीं धूल में लोट रहूँगी।
रहने दो मुझको इक ओर !!!

हाय ! कौन सुनता है मेरो—
मैं भिखारिनी दीना हूँ ।—
उन अतीत के सुख स्वप्नों में
वर्त्तमान—सी लीना हूँ !!
वहाँ, जहाँ वह गिरि श्रेणी है
जहाँ पथालों की छाया !
वहीं आज जीवित करती हूँ
उस अतीत की मृतमाया ॥—
प्रेम भरे वे फूल हार जो
थे अर्पित चरणों के मूल—
विस्मृति से धूमिल, अतीत से—
चिर नवीन है मेरे कूल ।—
वासन्ती रजनी मे फिरती—
हूँ मैं उन कुंजों के तीर।
व्यर्थ खोजती किसे ? कौन इस
मानस की समझेगा पीर ?—
अरे ! इन्हीं नक्षत्रों के तल
उसदिन का वह मधुर मिलाप—
अधर तीर्थ संगम पर विह्वल—
मौन भीरु चुम्बन संलाप !!!—
सभी स्वप्न हैं उस अतीत के
मेरे जीवन के निश्वास—
उनसे ही जीवित रहती हूँ—
कौन करेगा यह विश्वास !!!

निर्वासित हूँ किन्तु तुम्हें मैं-
आप नहीं दे सकती हूँ।
अश्रु भरा अंचल फैला कर-
यही अर्थना करती हूँ?
मंगल उषा सदा बरसावे
तुम पर स्वर्गिक सुख कल्याण
तब अतीत के प्रेम कुसुम सब
चिर नवीन हों बस इन प्राण।

॥ इति ॥

Printed by Ramzan Ali Shah at the National Press,
Allahabad.